उपहार

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आपने तो तक़ाज़ों के मारे ऐसा नाक में दम किया कि नाक हर समय फूली रहने लगी। नाक फूली देख कर लल्ला की महतारी ने मुँह फुलाया, बोली—"जब देखो तब नाक फुलाए रहते हैं, मानो किसी को खा जावेंगे—न जाने हर घड़ी नाक फुलाए रहने की आदत कहाँ से सीखी है।"

ख़ैर, जब मैंने उसे समझाया तब मानी। आप लिखते हैं कि लेख लिखो—ख़ासे रहे। मैं आपकी तरह फालतू तो हूँ नहीं। लेख लिखना तो आजकल बेकारों का काम है—कोई और काम नहीं तो चलो बैठे काग़ज़ ही रङ्गा करो—काग़ज़ रँगने की अपेक्षा यदि कपड़े रँगे जावें तो कुछ पैसे ही हाथ लगें। ये सब बातें समझते-बूझते हुए भी सम्पादकों से पिण्ड छुड़ाना बड़े वीर का काम है। लखनऊ के शोहदे बेचारे मुफ़्त ही बदनाम हैं। तुम सम्पादक लोग तो उनके भी चचा हो—बिना लेख लिए टलते ही नहीं। ख़ैर, आपसे कुछ मित्रता का नाता भी है, इसलिए जी में आया कि कुछ साँप-बिच्छू लिख कर बला

टालूँ। लेख लिखने बैठा तो काग़ज़ नदारद। लल्ला की महतारी रसोई में बैठी रोटी बेल रही थी, मैंने उससे कहा—"लल्ला की महतारी, दो आने पैसे हों तो दो।" लल्ला की महतारी आँखें चढ़ा कर बोली—"क्या करोगे?" मैंने उत्तर दिया—"लेख लिखने के लिए काग़ज़ लाऊँगा।" वह बोली—"लेख—लेख क्या?" अब बड़ी कठिनता पड़ी। लेख के अर्थ कैसे समझाऊँ। मैंने सर खुजलाते हुए कहा—"लेख लेख—यही लेख जो हुआ करते हैं।" बहुत ठीक—"यही लेख जो हुआ करते हैं।" कितना अच्छा अर्थ है; पर करता क्या, इसके अतिरिक्त समझाने का कोई और ढङ्ग ही न सूझा। लल्ला की महतारी बोली—"हुआ तो न जाने क्या-क्या करता है—तुम बकते क्या हो, मेरी कुछ समझ ही में नहीं आता।" मुझे उस समय हिन्दी के कोष बनाने वालों पर इतना क्रोध आया कि क्या कहूँ—दुष्टों ने लेख के अर्थ रक्खे हैं—'लिखा हुआ'—अब कोई भला आदमी अपनी भोली-भाली पत्नी को उसके अर्थ समझावे तो किस प्रकार? अन्त में मैंने कहा—"काग़ज़ लाकर उस पर लिखूँगा और अपने एक मित्र के पास भेजूँगा, वह उसे अखबार में छापेंगे।" लल्ला की महतारी बोली—"तो दो आने क्या करोगे? दो पैसे का पोस्काट बहुत है—बहुत-कुछ लिखना हो तो चार पैसे का लिफाफा ले आओ।" मैंने कहा—"पोस्टकार्ड और

लिफ़ाफे से काम नहीं चलेगा, बहुत-कुछ लिखना है।" लल्ला की महतारी चिल्ला कर बोली—"बहुत-कुछ क्या लिखना है, क्या अपनी जनम-पत्री लिख कर भेजोगे? मैं ये बातें सब समझती हूँ—पैसे ले जाकर भाँग खाओगे—तुम्हारी भाँग खाने की आदत कभी छूटेगी थोड़ा ही।" इतना सुनते ही मुझे भी क्रोध आ ही गया, आख़िर ब्राह्मण का पुत्र ही ठहरा। मैंने हृदय कड़ा करके कहा—"मैं भाँग खाता हूँ—यह बिलकुल ग़लत बात है। महीने में यदि पन्द्रह-बीस बार खा ली तो यह भी कोई खाने में खाना है। हमारे पिता जी महीने भर में गिन कर १०१ बार भाँग खाया करते थे। इसीलिए लोगो में उनका बड़ा मान था और लोग उनके नाम के पहले १०१ श्री लिखा करते थे। हमारे नाम के आगे तो कोई १ श्री भी नहीं लिखता। सो लिखें कैसे, जब से तुम्हारे खुरारविन्द आए तब से भाँग छूट ही गई। ईश्वर माता जी को चिरञ्जीव रक्खे—(सम्पादक जी चौंकिए मत ! माता जी को मरे बहुत दिन हो गए—मुझे विश्वास है कि उनका दूसरा जन्म हो गया होगा और इस समय वे बाल्यावस्था में होंगी।) हाँ तो ईश्वर उन्हें चिरञ्जीव रक्खे—वे स्वयं भाँग की बड़ी शौक़ीन थीं—पिता जी ने भाँग पीना उन्हीं से सीखा था—और एक तुम हो कि कभी दूसरे-तीसरे भी भाँग नही पीतीं। यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है !"

इतना सुनते ही लल्ला की महतारी ने रोटी की तरह मुँह फुलाकर वेलन खींच मारा। वह तो कहिए मेरी खोपड़ी ने वेलन को बीच ही में रोक लिया, नहीं तो पानी का घड़ा फूट जाता—बड़ा नुक़सान होता। अजी खोपड़ी तो अपनी चीज़ ठहरी—कुछ किराए की थोड़ा ही है, परन्तु यदि घड़ा फूट जाता तो दो आने के माथे जाती। ख़ैर साहब—लल्ला की महतारी का व्यवहार देख जी में तो आया कि मैं भी बिगड़ जाऊँ, परन्तु फिर यह सोच कर कि इस समय लल्ला की महतारी का मिज़ाज तवे की तरह गरम है—बिगड़ने से अपनी ही ख़राबी होगी—अर्थात् इच्छा न रहते हुए भी व्रत रखना पड़ेगा। यदि एकादशी होती तो कोई बात न थी—अवश्य ही बिगड़ जाता। यदि व्रत भी रखना पड़ता तो कुछ चिन्ता न थी, एक पन्थ दो काज हो जाते, परन्तु उस दिन चैत सुदी प्रतिपदा थी, इसलिए मैंने चुप रहना ही अच्छा समझा। और क्या, एक चुप सौ बलाएँ टालती है।

काग़ज़ के लिए पैसे न मिले, अब क्या करूँ। इसी चिन्ता में बड़ी देर तक बैठा रहा। अन्त में आपकी चिट्ठियों का ध्यान आया। सब चिट्ठियाँ निकाल कर गिनीं—कुल २२१ चिट्ठियाँ निकलीं—इनमें पोस्टकार्ड भी मिले थे। पोस्टकार्ड निकाल देने पर लगभग १५० ऐसे पत्र निकले जो हल्दी, मिर्चों की पुड़िया बनाने का काम बहुत

ही सुन्दरतापूर्वक दे सकते थे। बस फिर क्या था—झट पड़ोस के पन्सारी के पास पहुँचा। उसने सब चिट्ठियों के दस पैसे लगाए। मैंने कहा—"ये बड़े मूल्यवान् पत्र हैं। मैं इन्हे कदापि न वेचता, पर क्या कहूँ, बड़ी मुसीबत में फँस कर बेचे डालता हूँ।" पन्सारी ने पूछा, "क्यो दुबे जी, इनमें कौन सी ऐसी बात है जो आप इन्हे इतना मूल्यवान् बता रहे हैं?" मैंने उनमें से आपका एक पत्र, जिसमें आपने मेरे एक लेख की प्रशंसा करते हुए मुझे उसके लिए धन्यवाद दिया था, उसे पढ़ कर सुनाया। पन्सारी सुन कर बोला—"क्यों दुबे जी, आप जो यह सब लिख कर भेजते हैं तो अखबार वाले आपको कुछ देते भी होंगे?" मैंने कहा—"अजी देना-लेना क्या—मुहब्बत अजब चीज़ है।" पन्सारी बोला—"मेरे साले के साले का मामा भी लिख कर भेजा करता है—उसे तो अखबार वाले कुछ दिया करते हैं। आपको क्यों नहीं देते?" यह सुनते ही मुझे क्रोध आ गया—जी में तो आया कि एक चपत मार कर भाग जाऊँ, परन्तु कुछ सोच-समझ कर क्रोध को दबाया और बोला—वह कोई थर्ड-क्लास लेखक होगा, हमारे लेख अमूल्य होते हैं, उनका मूल्य कोई क्या दे सकता है। जितने थर्ड-क्लास लेखक होते हैं, उन सबको लेख के बदले मे कुछ मिलता है, क्योंकि वे कुछ के लिए ही लिखते हैं। हम लिखते हैं अपना चित्त प्रसन्न करने के लिए और सम्पादक

जी के प्रेम-पाश में फँसे होने के कारण। हमारी और उन थर्ड-क्लास लेखकों की क्या तुलना?"

खैर, इस वार्तालाप के पश्चात् जब पन्सारी को यह मालूम हो गया कि वास्तव ही ये पत्र मूल्यवान् हैं, तब उसने दो पैसे अधिक दिए। अर्थात् तीन आने दिए। उन तीन आने में से दो आने की तो भाँग छान डाली और चार पैसे का काग़ज़ लिया—उसी काग़ज़ पर यह पत्र लिख रहा हूँ।

अब आप कृपा करके लेख के लिए सौ-सवा सौ चिट्ठियाँ न लिख कर केवल एक पोस्टकार्ड लिखा करें, और साथ में एक दस्ता काग़ज़ भेज दिया करें—इससे आपको लेख शीघ्र मिल जाया करेगा। और यदि आपको यह बात स्वीकार न हो तो कम से कम डेढ़ सौ चिट्ठियाँ—पोस्टकार्ड नहीं—एक-दम से लिख दिया करें, जिससे उन्हें बेचकर काग़ज़ खरीद लिया जाया करे। आशा है, आप प्रसन्न होंगे।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

यद्यपि मैंने कुछ पत्रों में भी पढ़ा था और लोगों के मुख से भी सुना था कि आप 'पत्राङ्क' निकालने जा रहे हैं, तथापि मुझे विश्वास नहीं हुआ था कि आप 'पत्राङ्क' निकालेंगे। काहे से कि मैंने पहले कभी नहीं सुना था कि पत्राङ्क, लिफ़ाफाङ्क, पोस्टकार्डाङ्क भी निकलते हैं। परन्तु उस दिन रात को मैंने स्वप्न देखा कि आप 'पत्राङ्क' निकालने में जुटे हुए हैं, तब मुझे विश्वास हो गया। अतएव मेरी भी इच्छा हुई कि मैं एक चिट्ठी दाग़ दूँ। अच्छा तो यह होता कि आप 'पत्राङ्क' न निकाल कर 'चिट्ठ्याङ्क' निकालते, जिससे चिट्ठी मेरी सार्थक हो जाती और साथ ही लोगों को यह भ्रम न होता कि कहीं पत्र से आपका तात्पर्य उससे तो नहीं है, जो 'समाचार-पत्र' और 'मासिक पत्र' में से 'समाचार' और 'मासिक' काट देने से रह जाता है और जिसे अङ्गरेज़ी में साधारणतया पेपर कहते हैं। अस्तु, अब तो जो होना था, हो ही गया।

अच्छा सुनिए, आपको एक बड़ी आवश्यक बात सुनाता

हूँ। हमारे मुहल्ले में एक वृद्ध महाशय रहते हैं। यह महाशय कट्टर सनातनधर्मी हैं और जितने यह वृद्ध हैं, उतने ही वृद्ध इनके विचार हैं। एक दिन की बात है कि मैं शाम को ठण्ढाई-बूटी छान कर झूमता हुआ घर से निकला। इच्छा थी कि पार्क में जाकर बैठूँगा, परन्तु ज्योंही द्वार के बाहर निकल कर दस कदम चला कि वृद्ध महाशय से ठोकर खाई। वृद्ध महाशय की सूरत देखते ही आधा सुरूर तो वहीं ठण्डा हो गया; क्योंकि यह महाशय वह बला हैं कि ईश्वर बचावे। रास्ते में कहीं मिल गए तो समझ लीजिए कि दो घण्टे के लिए बेकारी से छुट्टी मिल गई। मैंने चाहा कि कतरा कर निकल जाऊँ, पर उन्होंने भी शिकार देख लिया था। मुस्करा कर बोले—"अजी दुबे जी, ऐसे अलग-अलग जाइएगा—किधर के इरादे हैं?" मैंने मन में कहा—"इरादे तो बहुत-कुछ थे, पर आपकी सूरत देखते ही सबों को लक़वा मार गया।" प्रकट में मैंने उनसे कहा—"कुछ नहीं, ज़रा योंही घूमने के लिए निकला था; परन्तु अब इच्छा होती है कि घर लौट जाऊँ।" वह बोले—क्यों-क्यों, घर लौटने की कौन बात है? चलिए मैं भी तो उधर ही चल रहा रहा हूँ।

यह शुभ-समाचार सुनते ही दम ख़ुश्क हो गया। समझ लिया कि आज बेगार में धर लिए गए। अच्छा, ईश्वर की इच्छा—योंही सही, असन्तोष की एक दीर्घ-निश्वास छोड़

कर मैंने कहा—"अच्छी बात है, चलिए।". ख़ैर साहब, दोनों आदमी चले। चार क़दम चलते ही वृद्ध सज्जन ने पूछा—"कहिए, आप सनातनधर्म के वार्षिक अधिवेशन मे गए थे?" मैंने कहा—" नहीं, मैं तो नहीं जा सका।" वृद्ध विस्मित होकर बोले—"एँ, नहीं गए?" मैंने पुनः धड़कते हुए कलेजे से कहा—"जी नहीं!" वृद्ध—"यह तो आपने बड़ा बुरा किया। इस वर्ष अधिवेशन देखने योग्य था। वह-वह स्पीच हुई कि मैं आपसे क्या तारीफ करूँ। विधवा-विवाह इत्यादि के तो वह धुर्रे उड़ाए गए कि कुछ न पूछिए। जवाब देते न बना। आप तो बस थाँव के टर्रे हैं—घर मे बैठे दुलत्तियाँ झाड़ा करते हैं। सभा में जाते तो मालूम पड़ता।"

यह सुनते ही मैंने भी ज़रा कान फटफटाए और सिर उठा कर कहा—"हाँ साहब, आप क्या फरमाते थे?" वह बोले—"मालूम होता है कि आज गहरी छन गई। मैं इतनी बातें कह गया, आप कहते हैं कि क्या फ़रमाते थे।" मैंने कहा—"जी नहीं, गहरी-वहरी तो कुछ नहीं छानी, और चाहे जितनी गहरी छानूँ, पर आपके सामने आते ही सब हलकी हो जाती है। हाँ, तो आप यह कह रहे थे कि विधवा-विवाह के ख़ूब धुर्रे उड़ाए गए, क्यों न?"

वृद्ध सज्जन बोले—"हाँ!" मैंने पूछा—"भला आप यह बता सकते हैं कि विधवा-विवाह के खण्डन में क्या

कहा गया ?" वृद्ध महाशय मुँह बना कर बोले—"यह पूरे तौर से तो मैं नहीं बता सकता ; क्योंकि मैं बहुत पीछे बैठा हुआ था और बुढ़ापे के कारण कुछ ऊँचा भी सुनने लगा हूँ।" तब मैंने कहा—"तब तो आप जो भी कहें, मैं सब मान लेने को तैयार हूँ। चलिए, मैं भी कहता हूँ कि वाक़ई ख़ूब कहा गया—ऐसा और इतना कहा गया कि लोगों को याद तक नहीं कि क्या कहा गया!" वृद्ध महाशय बोले—"तो क्या आप विधवा-विवाह ठीक समझते हैं ?" मैंने कहा—"मान लीजिए कि मैं ठीक समझता हूँ।" वृद्ध महाशय—"तब तो आप सख़्त ग़लती करते हैं। विधवा-विवाह को कोई भला आदमी ठीक न कहेगा।"

मैंने कहा—"क्यों ?" वह बोले—"विधवा-विवाह का पक्ष किसी भले आदमी को नहीं लेना चाहिए। यदि आप भले आदमी हैं तो विधवा-विवाह का पक्ष कभी न लेंगे।"

मैंने कहा—यह आप बहस करते हैं या पाठ पढ़ा रहे हैं ?

वह—अच्छा, तो आप बहस करना चाहते हैं ? अच्छी बात है, चलिए। मैं कहता हूँ, विधवा-विवाह बुरा है।

मैंने उनके स्वर में स्वर मिला कर कहा—मैं कहता हूँ, विधवा-विवाह अच्छा है !

वह—अच्छा क्यों है ?

मैं—बुरा क्यों है ?

वह—आप बहस करते हैं या मज़ाक़? जो मैं कहता हूँ, वही आप कहते हैं! आप साबित कीजिए कि विधवा-विवाह अच्छा है।

मैं—आप साबित कीजिए कि विधवा-विवाह बुरा है!

वह—अभी तक विधवा-विवाह नहीं होता था, इसलिए वह बुरा है।

मैं—अब विधवा-विवाह होने लगा, इसलिए वह अच्छा है।

वह—आप तो मज़ाक़ करते हैं।

मैं—आपकी उम्र तो इस योग्य रही नहीं कि कोई आपसे मज़ाक़ करे, वैसे जो आप समझें, वह सर्वथा उचित है।

वह—विधवा-विवाह से वर्णसङ्कर पैदा होंगे—यह आप जानते हैं?

मैं—बिलकुल नहीं, जब विवाह होगा तब वर्णसङ्कर कैसे उत्पन्न होंगे—यह आप जैसे अनुभवी मनुष्य जान सकते हैं।

वह—विधवा-विवाह से व्यभिचार बढ़ेगा।

मैं—अभी दिन-प्रतिदिन घट रहा था और विधवा-विवाह से बढ़ेगा? यह तो निस्सन्देह घाटे की बात है।

वह—जहाँ विधवा-विवाह प्रचलित हुआ कि स्त्रियाँ पुरुषों को फूस समझने लगेंगी।

मैं—अभी तक सुवर्ण समझती थीं ?

वह—बेशक ! अभी तक तो यह समझती थीं कि यदि पति मर गया तो जन्म भर के लिए राँड हो जायँगी। विधवा-विवाह के प्रचलित हो जाने पर तो कोई डर नहीं रह जायगा—समझ लेंगी कि यदि यह मर गया तो दूसरा विवाह हो जायगा।

मैं—इसलिए वह पति को विष दे दिया करेंगी ; क्यों न ?

वह—क्या ताज्जुब है। जब यह स्वतन्त्रता है कि दूसरा विवाह हो जायगा, तब विष देना कोई आश्चर्य है ?

मैं—आपने अपनी इतनी आयु में कितनी स्त्रियों को विष दिया है ?

इस पर वृद्ध महाशय कुछ चकरा कर बोले—इसका क्या तात्पर्य ?

मैं—जब आपको यह स्वतन्त्रता थी कि दूसरा विवाह तो हो ही जायगा, तब आपको उचित था कि कम से कम दस-बारह स्त्रियों को तो ज़हर देते।

वह—राम ! राम !! आप भी क्या बातें करते हैं, मैं क्या हत्यारा हूँ ?

मैं—नहीं, आप तो महा दयालु हैं—हत्यारी तो केवल स्त्रियाँ ही हैं।

इसी समय हम लोग पार्क में पहुँच गए। पार्क में एक

खाली बेञ्च पर बैठ कर पुनः वार्त्तालाप होने लगा । वृद्ध महाशय बोले—दुबे जी, सच-सच बताइएगा, क्या आपको यह अच्छा मालूम होता है कि आपके मर जाने पर आपकी स्त्री दूसरे पुरुष के पास चली जाय ?

मैंने कहा—एक दिन लल्ला की महतारी ने भी मुझसे यही प्रश्न किया था । इसका उत्तर मैंने यही दिया था कि नहीं । इस पर उसने कहा कि फिर हम स्त्रियाँ कैसे यह अच्छा समझेंगी कि हमारे मरने पर हमारा पति दूसरी स्त्री का होकर रहे ?

वह—तो इससे क्या मतलब निकला ?

मैं—इससे यह मतलब निकला कि यदि विधवा-विवाह बुरा है तो विधुर-विवाह भी बुरा है । विधवा-विवाह पुरुषों की दृष्टि से बुरा है, विधुर-विवाह स्त्रियों की दृष्टि से ।

वह—ओफ ओह ! यह कलिकाल का प्रभाव है, जो आप ऐसी बातें करते हैं ।

मैं—खूब सोचे सत्ययुगी जी महाराज !

वह—हम सत्ययुगी न सही, पर विचार हमारे सत्ययुगी ही हैं ।

मैं—बाबा आदम के समय के सब लोग ऐसे ही हैं ।

वह—अच्छा, विधवा-विवाह को जाने दीजिए, स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

मैं—स्त्री-शिक्षा पर आप पहले अपने विचार बताइए।

वह—नहीं, आप बताइए।

मैं—मैं तो आपके विचार सुन कर अपने विचार बनाऊँगा। आप अनुभवी आदमी हैं, पहले आप अपना अनुभव बताइए।

वह—मेरा विचार है कि स्त्री-शिक्षा महा खराब है।

मैं—यह तो आपने कोई नई बात नहीं कही, यह तो आपकी उम्र के सब लोग कहते हैं।

वह—(प्रसन्न होकर) देखिए, जो सब लोग कहते हैं, वही मैंने भी कही।

मैं—हाँ-हाँ, आप कुछ उनसे ज्यादा बेवक़ूफ़ तो हैं नहीं, जो कुछ और अएट-शएट बकने लगते।

वह—बेशक, मैं इतना बेवक़ूफ़ नहीं हूँ कि अएट-शएट बकूँ। मैं तो जो कहूँगा, सो पक्की बात कहूँगा। भई दुबे जी, स्त्री-शिक्षा से मेरा नाकों दम आ गया। मेरी दो पोतियाँ स्कूल में पढ़ती हैं। आप जानिए, आजकल के आदमी तो हम बूढ़ों की बात तो सुनते नहीं। मैंने मना किया था कि स्कूल में न पढ़ाओ, पर हमारे सपूत न माने। सो जनाब, वे लड़कियाँ स्कूल में पढ़ाने बिठा दी गईं। अब मैं क्या बताऊँ कि उनकी क्या दशा है। घर की अपढ़ स्त्रियों को, जैसे अपनी दादी तथा माता को, तो वे कूड़ा-करकट समझती हैं। घर के काम-काज में हाथ लगाना उनके लिए महापाप है। भोजन बनाना वे केवल स्कूल का पाठ-सा समझती हैं।

हाँ, उपन्यास या नाटक मिल जाय तो रात भर बैठे-बैठे भोर कर दें। बात-बात में बड़े-बूढ़ों से बहस करने को तैयार रहती हैं। ऐसी शिक्षा से तो हमारी पुरानी अशिक्षित स्त्रियाँ कहीं अच्छी हैं।

मैं—यह शिक्षा का दोष नहीं है, वरन् शिक्षा-पद्धति का दोष है। आजकल जिस ढङ्ग से लड़कियों को शिक्षा दी जाती है, उससे लड़कियाँ यह समझने लगती हैं कि दुनिया में उनके लिए पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त और कोई काम है ही नहीं। पुस्तकें पढ़ने के अतिरिक्त और सब काम व्यर्थ हैं। उनको शिक्षा इस ढङ्ग से दी जानी चाहिए, जिससे वह गृह-कार्य में कुशल होना और गृहस्थी को सञ्चालित करना अपना पहला कर्त्तव्य समझें।

वह—यह सब कुछ नहीं, मैं तो कहता हूँ कि लड़कियों को शिक्षा देनी ही न चाहिए।

मैं—तो क्या उन्हें बिलकुल मूर्ख रक्खा जाय?

वह—नहीं, उन्हें भोजन बनाना, कपड़े सीना सिखाया जाय; घर का काम-काज करना, गृहस्थी चलाना बताया जाय।

मैं—तो यह हुआ क्या, यह शिक्षा नहीं है?

वह—नहीं, शिक्षा पढ़ाने को कहते हैं।

मैं—तो आपका क्या मतलब है कि और सब सिखाया जाय, खाली पढ़ाया न जाय?

वह—हाँ।

मैं—क्यों ?

वह—जहाँ स्त्रियाँ पढ़ने लगीं, बस वह पुस्तकें पढ़ती हैं, घर का धन्धा बिलकुल भूल जाती हैं।

मैं—ओफ़ ओह ! तब तो पुस्तकें मानो घर का धन्धा भुलाने वाली हैं।

वह—निस्सन्देह !

सम्पादक जी, कहाँ तक कहूँ—वे महाशय इसी प्रकार की बातें करते रहे। दिमाग़ के लिए तो वह वैसे ही हैं, जैसे गुड़ के लिए चींटी। उनसे बातचीत करने के पश्चात् कम से कम १२ घण्टे के लिए दिमाग़ बेकार हो जाता है। इन बूढ़ों के मारे कोई सुधार का काम शीघ्र नहीं होने पाता। नई बात से वह चाहे कितनी ही लाभदायक क्यों न हो, ये लोग ऐसे भड़कते हैं जैसे बेवक़ूफ़ घोड़ा अपने साए से। कोई व्यक्ति चाहे जितना भी विद्वान् क्यों न हो, चाहे जितना ज्ञानवान् हो, परन्तु जहाँ उसने कोई बात ऐसी कही, जो इनके विरुद्ध पड़ी, बस झट उसके लिए यह कह दिया जाता है—आख़िर लौंडा ही है न ! अनुभव तो क़तई है ही नहीं। हम लोगों ने दुनिया देखी है। इन लोगों के लिए बालों का श्वेत हो जाना इस बात का प्रमाण है कि तमाम ज़माने भर की बुद्धि इन्होंने समेट कर अपने दिमाग़ में भर ली है, इसीलिए बाल सफ़ेद पड़ गए।

दाँतों का गिर जाना इस बात का प्रमाण-पत्र है कि इनके अन्दर जितनी बेवकूफी और बुद्धि की कमी थी, वह सब दाँतों के साथ निकल गई। पार्क में इन बूढ़ों की एक टुकड़ी जमा होती है। इस टुकड़ी में कोई बूढ़ा ऐसा नहीं होता, जिसकी वयस ६० से कम हो। उस समय इन लोगों की बातें सुनने में बड़ा आनन्द आता है। एक इधर से लम्बी साँस छोड़ कर कहता है—"अजो अब तो ज़माना ही बदल गया। हमारे सामने इन बातों की कहीं छाया भी नहीं थी।" दूसरा कहता है—"हम लोगों के समय में किसी की मजाल नहीं थी कि ये बातें ज़बान पर ले आए।" तीसरे सज्जन सिर हिला कर फर्माते हैं—"तो जनाव, जैसी नियत है वैसी बरकत भी तो है। हम लोगों ने जितना खा-पी डाला, उतना आज लोगों को देखने तक को नसीब नहीं।" इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ में वेद-वाक्य ही कहता है। इन भले आदमियों से कोई पूछे कि ज़माना तो सदा बदलता ही रहता है, यदि आपके बुढ़ापे में बदल गया तो कौन सी बड़ी भारी क्रान्ति हो गई? जी हाँ, आपके समय में तो आपके नाती-पोते भी नहीं थे, फिर यह कहाँ से आ गए और क्यों आ गए? यदि आप प्रत्येक नई बात और नई चीज़ को इसलिए अच्छा या बुरा समझते हैं कि वह आपके समय में नहीं थी, तब तो बेड़ा पार है। एक दिन मैंने एक बूढ़े को कहते सुना—"अजी हमें क्या, हमारी

तो बीत गई, हम तो दो-चार बरस के मेहमान हैं—आगे जैसा समय आ रहा है, वह जो जिएँगे, वह देखेंगे।" उनके कहने के ढङ्ग से मालूम होता था कि आगे कोई बड़ा बुरा समय आ रहा है, जिसके कारण सारी पृथ्वी उलट-पलट हो जायगी। यदि वह इस दृष्टि से कहते थे कि आगे जो समय आ रहा है, उसमें वह नहीं रहेंगे, तब तो निश्चय ही उनके लिए वह बुरा समय आ रहा है। इस प्रकार इनकी बातें चुपचाप सुनें तो आपको मालूम होगा कि संसार में चारों ओर अनर्थ और अत्याचार ही हो रहा है। संसार में बूढ़ों के अतिरिक्त और कोई समझदार आदमी नहीं है। ये बूढ़े जब पैदा हुए थे, तब पूरा सतयुग था, अब घोर कलि-युग है, और जब ये न रहेंगे, तब प्रलय हो जायगा। मैं यह नहीं कहता कि सब ऐसे ही हैं, परन्तु अधिक संख्या ऐसों की ही है। विशेषकर कुछ तो ऐसे हैं कि उन्हें पिंजरे में बन्द करके रक्खे और उनकी बोलियाँ सुना करे। फिर देखिए, वह भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनों युग का हाल किस सुन्दरता से बताते हैं। जो घोर आशावादी हो, उसे कुछ दिनों तक किसी बूढ़े के साथ कर दीजिए, फिर देखिए, वह कितना निराशावादी हो जाता है। बात भी पक्की है। मृत्यु के निकट पहुँच कर मनुष्य निराशावादी बना ही चाहे, उस समय वह आशावादी रह ही कैसे सकता है ? इस दृष्टि से तो उनकी सारी बातें क्षम्य हैं। अच्छी बात है, मैं अपनी

सब बातें वापस लेता हूँ, क्योंकि मुझे भी एक दिन बूढ़ा होना है। सम्पादक जी, आपको भी एक दिन बूढ़ा होना है, इस कारण आप भी इनके विरुद्ध कुछ न कहें।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की!

परसों मेरी एक व्यक्ति से झोड़ होगई। हिन्दी-साहित्य पर बातचीत हो रही थी। उसी में हिन्दी-कवियों का जिक्र आ गया। इस पर वह दुष्ट कहता क्या है कि हिन्दी में अभी तक कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ। इतना सुनना था कि मेरे बदन में आग ही तो लग गई। आप जानिए, अपने राम नाक पर मक्खी नहीं बैठने देते। मैंने कहा—"आज-कल तो बरसाती मेंढक की तरह गली-गली कवि उछलते फिरते हैं, ये क्या आपको दिखाई नहीं देते? यदि यही दशा है तो आपको दिन में ऊँट काहे को सूझता होगा?" वह महाशय बोले—"इन्हें आप कवि कहते हैं?" मैंने कहा—"इससे आपको क्या मतलब कि मैं इन्हें क्या कहता हूँ। आप जो कुछ कहते हों, वह बताइए?" वह बोले—"इन लोगों को मैं तुक्कड़ कहता हूँ।" मैंने कहा—"आप झख मारते हैं।" वह कहने लगे—"यह क्या, आप बात करते हैं या गालियाँ बकते हैं?" मैंने उत्तर दिया—"बस, आपकी योग्यता का पता चल गया। जिस प्रकार आप झख मारने को गाली समझते हैं, उसी प्रकार कवियों को तुक्कड़ समझते

हैं। कहिए, कैसी दलील पेश की ? अब आपको बोलने की गुञ्जाइश नहीं रही।" उन्होने कहा—"दलील क्या ख़ाक पेश की, बेवक़ूफ़ी की बातें × × ×।" मैं चिल्ला उठा—"हायँ-हायँ, यह क्या ? ज़रा समझ-बूझ कर मुँह से बात निकालिए, क्योंकि मैं भी आपसे किसी बात में कम नहीं हूँ।" वह बोले—"अच्छा, न हम आपकी मानें न आप हमारी। चलिए, मैं आपको एक साहित्य-मर्मज्ञ के पास लिए चलता हूँ—वह जो कुछ कह दें वही ठीक माना जाय।" मैं झट कमर कस कर बोला—"चलिए, मैं क्या किसी से डरता-दबता हूँ।'

ख़ैर साहब, वह मुझे लेकर एक महोदय के पास पहुँचे। वह महोदय उस समय हजामत बनवा रहे थे। उन्होंने मेरे साथ के सज्जन को देखते ही मुस्करा कर कुछ कहना चाहा; पर उसी समय नाई ने उनका मुँह दाब दिया, इसलिए उन्होंने हाथ से बैठने का इशारा किया। मुझे नाई की इस धृष्टता पर क्रोध आया, परन्तु फिर यह सोच कर कि नाई ने कुछ मेरा मुँह तो दबाया नहीं, मैं चुप हो रहा।

जब वह महाशय हजामत बनवा चुके, तब मेरे साथी से बोले—"कहिए शर्मा जी, कैसे पधारे—सब कुशल तो है ?" वह बोले—हाँ, आपकी कृपा से सब कुशल है। इस समय आपके पास झगड़ा लेकर आया हूँ। आप उसका फ़ैसला कर दीजिए।"

वह बोले—कैसा झगड़ा ?

मेरे साथी ने मेरी ओर सङ्केत करके कहा—ये सज्जन कहते हैं कि हिन्दी में असंख्य कवि हैं और मैं कहता हूँ कि हिन्दी में अभी तक कोई कवि ही उत्पन्न नहीं हुआ। आपकी इसके सम्बन्ध में क्या राय है ?

वह सज्जन कुछ कहने ही को थे कि मैं बीच में बोल उठा। मैंने कहा—ठहरिए महाशय, पहले मुझे यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि आप इस विषय पर कुछ कहने के अधिकारी हैं या नहीं ?

मेरे साथी ने कहा—इससे आपको क्या ?

मैंने कहा—इससे मुझे सब कुछ है। पहले मेरे तीन-चार प्रश्नों का उत्तर मिलना चाहिए।

उन सज्जन ने कहा—"पूछिए।" मैंने पूछना आरम्भ किया :—

पहला प्रश्न—आप स्वयम् कवि हैं या नहीं ?

उत्तर—मैं स्वयम् कवि नहीं, परन्तु मैंने सैकड़ों कवि बना डाले। मैं कवि नहीं हूँ, परन्तु कविकार अवश्य हूँ।

दूसरा प्रश्न—काव्य के सम्बन्ध में आपका ज्ञान कहाँ तक है ?

उत्तर—मेरा ज्ञान काव्य में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मैंने पिङ्गल का नाम सुना है, छन्द-शास्त्र भी एक दिन एक पुस्तक-विक्रेता के यहाँ रक्खा देखा था।

तीसरा प्रश्न—अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान है कि नहीं ?

उत्तर—(हँसते हुए) अजी अलङ्कार तो मैंने अनेकों अपनी पत्नी के लिए गढ़ा डाले, उनका यहाँ क्या प्रसङ्ग ?

चौथा प्रश्न—भाव आप समझ लेते हैं ?

उत्तर—हाँ, जिन चीजो का घर में नित्य खर्च रहता है, उनका भाव तो हरदम जबान की नोक पर है, आजकल का भाव सुनिए—घी साढ़े आठ छटाँक, गेहूँ नौ सेर, चावलो में कई भाव हैं—जैसा लीजिए वैसा भाव।

पाँचवाँ प्रश्न—'उर्दू के शेर भी कभी देखे या सुने हैं ?

उत्तर—शेर मैंने सरकस में कई वार देखे, पर यह नहीं मालूम कि उर्दू के थे या हिन्दी के।

छठा प्रश्न—कुछ बङ्गला-काव्य का भी ज्ञान है ?

उत्तर—बङ्गला मिठाई तो बहुत खाई; पर बङ्गला-काव्य भी होता है—यह आपही के मुँह से सुना।

सातवाँ प्रश्न—शेक्सपियर या टेनीसन की पुस्तकें पढ़ी हैं ?

उत्तर—भई हाथरस के नत्था-चिरञ्जी की पुस्तकें तो बहुत सुनीं; पर शेक्सपियर, टेनीसन का नाम नहीं सुना। ये क्या कोई नए पुस्तक वाले पैदा हुए ? जरा पता बता दीजिए, मैं इनके यहाँ से भी पुस्तकें अवश्य ही मँगाऊँगा।

मेरे साथी ने पूछा—बस अब सन्तोष हुआ कि नही ?

अब तो मान गए कि यह काव्य पर राय देने के अधिकारी हैं ?

मैंने कहा—बिलकुल मान गया। ऐसे विद्वान् आदमी राय न देंगे तो फिर और कौन देगा ?

मेरे साथी ने उन सज्जन से कहा—हाँ, तो अब आप बताइए कि हिन्दी में कोई कवि है या नहीं ?

वह सज्जन बोले—भई, मैंने तो आज तक किसी का नाम सुना नहीं। होते तो मेरे कान में उनके नाम की भनक जरूर ही पड़ती। अभी तक एक ही कवि है।

मैंने पूछा—वह कौन ?

वह बोले—वही, जिसने पूरनमल, बेला का ब्याह और न जाने किसका गौना लिखा है।

मैंने उस कवि का नाम पूछा। उन्होंने कहा—नाम तो उसका आज तक सुना ही नहीं।

मेरे साथी उछल पड़े, बोले—बस, इससे यह प्रमाणित हो गया कि हिन्दी में कोई कवि नहीं है। जिसका नाम नहीं मालूम वह भी न होने ही के बराबर है। कहिए—अब आप हार गए ?

सम्पादक जी, मैंने देखा ये दोनों तो मेरे भी चचा हैं, यहाँ जरा कुछ चीं-चपड़ की तो वह बे भाव के पड़ेंगे कि कम से कम छः महीने तक हजामत बनवाने की आवश्यकता न रहेगी। इसलिए मैंने कहा—"जी हाँ, जी हाँ, आप

बिलकुल ठीक कहते हैं—मै आपकी बात मान गया।"
यह कह कर मै वहाँ से रस्सियाँ तुड़ा कर भागा और सीधे आकर लल्ला की महतारी की गोद में दम लिया।

सम्पादक जी, उस दिन मुझे ज्ञात हुआ कि ईश्वर सेर के लिए सवा सेर भेज ही देता है। आशा है आप प्रसन्न होंगे।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

—

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

कहिए, मिज़ाज अच्छे हैं ? कहीं मेरी तरह भीतर ही भीतर सुलग तो नहीं रहे हो। मैं तो वाक़ई सुलग रहा हूँ। कलकत्ते के गोविन्द-भवन की घटना तो आपने पढ़ी ही होगी—भला आप क्यों चूकने लगे, आप तो ऐसी बातें चूहे के बिल तक में से खोद निकालते हैं। सम्पादक जी, सच मानना, मैं तो मारे ईर्ष्या के जल-भुन कर आलू के चटपटे कोफ़्ते हुआ जा रहा हूँ। बार-बार यही विचार आता है कि हाय हुसेन हम न हुए ! एक तो मारवाड़ी दूसरे सनातनधर्मी—चुपड़ी और दो-दो वाला मज़मून है। सच पूछिए तो सनातनधर्म का आनन्द इन मारवाड़ियों ही के कारण है। प्रथम तो सनातन-धर्म ही ले लीजिए—आजकल के कुछ लोग, जिनके दिमाग़ में ईश्वर की दया से भूसे का अंश कुछ आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है, जिसे सनातनधर्म मानते हैं, वह धर्म कितना अच्छा धर्म है। ऐसा ग़रीबपरवर, सण्डामुसटण्डा-परवर, ढोंगीपरवर धर्म बड़े भाग्य से मिलता है और इसका धर्माचार्य बनने के लिए तो लाखों वर्ष तपस्या करने की आवश्यकता है। इस धर्म ने ईश्वर को टके पसेरी करके

छोड़ दिया। वाह रे धर्म ! इस धर्म की बदौलत ईश्वर, राम, कृष्ण गली-गली जूतियाँ चटकाते घूमते हैं; उन्हें कोई टके को नहीं पूछता। और पूछे भी कोई क्यों ? इस धर्म के सब अवलम्बी हाथ के कारीगर ठहरे—ईश्वर बनाना उनके बाएँ हाथ का खेल है। ज़रा-सी मिट्टी उठाई और ईश्वर तैयार ; ज़रा-सा पत्थर उठाया और ईश्वर मौजूद। अमेरिका आदि देशों ने विज्ञान में इतनी उन्नति की सही, पर अभी उनमें यह बात कहाँ ? सो जनाब, जो मिट्टी-पत्थर को ईश्वर बना सकते हैं, उन्हें आदमी को ईश्वर, कृष्ण, राम बनाते क्या देर लगती है ? जहाँ दस आदमियों ने खड़े होकर हल्ला मचाया, वहीं वह आदमी से ईश्वर हो गया—क्या कमाल है ! ऐसी ही घटना गोविन्द-भवन में भी घटी। हीरालाल ने गीता की व्याख्या जो की तो मूर्खों की बुद्धि ने सनातनधर्मी तर्क के अनुसार झट उन्हें कृष्ण का अवतार मान लिया। गीता भगवान् कृष्ण ने उत्पन्न की, इसलिए गीता का मर्म सिवाय उनके कोई जान नहीं सकता। अतएव जो गीता का मर्म जानता है, वह भगवान् कृष्ण है। कितना सीधा-सादा तर्क है। हीरालाल गीता का मर्म जानता है या नहीं, यह तो उसके भक्त ही जान सकते हैं; क्योंकि भगवान् की बातें सिवाय भक्तों के और कौन समझ सकता है। इधर लोगों ने विशेषतः मारवाड़ियों ने ईश्वर को इतना सस्ता संस्करण जो पाया तो लूट मचा दी। व्यवसायी जाति ठहरी, सस्ता माल

देख कर टूट पड़ी। फिर क्या था, मनोकामनाएँ प्राप्त होने लगीं। मारवाड़ी धनी जाति ठहरी, इसलिए रुपए-पैसे, धन-दौलत की तो इसे आवश्यकता नहीं—इसे अधिकतर सन्तान की आवश्यकता रहती है। तो जब ईश्वर मुट्ठी में आ गया तो फिर क्या था, मनमानी सृष्टि करवाने लगे। इधर ईश्वर ने भावुकता में आकर या इसलिए कि ईश्वर समदृष्टि होता है—उसके लिए विधवा और सधवा सब एक हैं—विधवाओं द्वारा भी सृष्टि करनी आरम्भ की, तब संसार के इस ईश्वर की लीला का हाल मालूम हुआ। सो भी एक विधवा की मूर्खता से। उसने ईश्वर की शक्ति पर सन्देह करके खुले रूप से यह प्रश्न किया कि—"हे भगवन्, आप मेरे द्वारा जिस प्राणी की सृष्टि कर रहे हैं, उसका क्या होगा ?" इसी पर नास्तिकों ने तूफान उठा दिया। इसी तूफ़ान के कारण ईश्वर की सृष्टि का भण्डाफोड़ हुआ।

उन मारवाड़ियों के लिए, जो इस ईश्वर के भक्त थे, यह बहुत बुरा हुआ। यदि ऐसा न होता तो ईश्वर अपनी सृष्टि द्वारा सारे संसार को मारवाड़ियों से पाट देता। हाय-हाय! सत्यानाश हो जाय इन विधवाओं का, जिनकी बदौलत बेचारों के हाथ से एक ईश्वर निकल गया। विधवाएँ होती ही अनर्थ की जड़ हैं। इसीलिए तो सनातनधर्मी इन्हें जहर की पुड़िया समझते हैं। विधवा-विवाह के पक्षपाती हल्ला मचा रहे हैं कि लो और न करो विधवा-विवाह!

परन्तु वह यह नहीं समझते कि विधवा-विवाह कर देने से तो मनुष्य द्वारा सृष्टि बढ़ती, परन्तु इस प्रकार तो साक्षात् ईश्वर द्वारा अथवा ईश्वर के अंश भक्तराज द्वारा सृष्टि बढ़ती है। उस तरह मनुष्य के बेटे पैदा होते, इस तरह ईश्वर के बेटे पैदा होंगे!

अब इन सनातनधर्मियों से पूछा जाय कि जिन दस-बारह विधवाओं के उदर-सागर मे ईश्वर के बेटे शयन कर रहे हैं, उनकी क्या दशा होगी? जब वे बेटे भूमण्डल पर अवतरित होंगे तो क्या करेंगे? सनातनधर्म का प्रचार करेंगे, या विधवा-विवाह का खण्डन करेंगे, या वे भी अपने पिता भक्तराज की तरह सृष्टि बढ़ाने का कार्य करेंगे? यदि यह भण्डाफोड़ न होता तो सम्भव था वे सब भूमण्डल पर न आते—उदर-सागर में ही अन्तर्द्धान हो जाते—या भूमण्डल के रास्ते से सीधे वैकुण्ठ-धाम को चले जाते, अथवा योंही ईश्वर के भरोसे पर किसी घूरे-वूरे पर फेंक दिए जाते, पर अब तो ऐसा होना असम्भव है; क्योंकि अनीश्वर-वादियों को सब पता लग गया है—वे इनमें से एक भी युक्ति पूरी न होने देंगे। अतएव अब यह समस्या कैसे हल होगी?

यही प्रश्न मैंने उन वृद्ध महाशय से पूछा था, जिनका कुछ हाल मैं अपनी पिछली चिट्ठी में लिख चुका हूँ।

मेरे इस प्रश्न को सुन कर वह बोले—वे सब अनाथालय में दे दिए जायँ।

मैंने कहा—जिसके माता-पिता जीवित होते हैं, वह तो अनाथ कहलाता नहीं।

वृद्ध महाशय—माता तो है, पिता कहाँ है?

मैं—पिता तो वही हीरालाल मौजूद है।

वृद्ध—वह पिता कैसे हो सकता है? उसके साथ विधवाओं का विवाह कब हुआ था?

मैं—तो आपका यह मतलब है कि विवाहित आदमी ही पिता हो सकता है?

वृद्ध—और क्या?

मैं—यह आप शायद सनातनधर्म के अनुसार कहते हैं। वैसे प्राकृतिक नियम तो यह है कि जिसका वीर्य वही पिता।

वृद्ध—यह कुछ नहीं, जब तक शास्त्रोक्त रीति से पाणिग्रहण न हो, तब तक वह पिता नहीं हो सकता।

सम्पादक जी, वृद्ध महाशय के इस तर्क के सामने मैं उन्हें क्या उत्तर देता?

मैंने कहा—अच्छा मान लिया, वे बच्चे अनाथालय में दे दिए गए, परन्तु उन विधवाओं का क्या होगा?

वृद्ध—उन विधवाओं का? हूँ, यह अवश्य सोचने की बात है। हाँ, ख़ूब याद आया—विधवा-आश्रम में भेज दी जायँ।

मैं—इस तरह विधवा-आश्रम का आदर्श तो ख़ूब

बढ़ेगा। विधवा-आश्रम तो उन विधवाओं के लिए है, जो सच्चरित्रतापूर्वक परिश्रम करके अपना जीवन व्यतीत करना चाहे।

वृद्ध—अब तो वे सच्चरित्र रहेंगी ही।

मैं—क्यों?

वृद्ध—इतना बड़ा धोखा खा चुकी हैं, अब भी सच्चरित्र न रहेंगी तो करेंगी क्या?

मैं—यह आशा तो उनसे आरम्भ से ही थी—जब विधवा हुई थीं तभी। आप-जैसे लोग समझते थे कि विधवा हो गई हैं, इसलिए सच्चरित्र रहेंगी ही।

वृद्ध—हाँ, उन्हें रहना चाहिए था!

मैं—चाहिए तो सब कुछ था, पर प्रश्न तो यह है कि वह रह भी सकती हैं या नहीं?

वृद्ध—तो भाई, जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, हमें इस झगड़े से क्या काम?

मैं—हाँ, ठीक है—आपकी तो चैन से कटती है, दुनिया चाहे भाड़ में पड़े, क्यों न?

वृद्ध—ठीक बात है, हमसे क्या मतलब?

मैं—यह सब कुछ है, परन्तु विधवा-विवाह का समर्थन आप न करेंगे, क्यों?

वृद्ध—कदापि नहीं, विधवा-विवाह करना तो महा-पाप है।

मैं—और यह सब जो होता है, यह महा-पुण्य है—क्यों न ?

वृद्ध—यह भी पाप है ; न यह होना चाहिए न वह !

मैं—तो आप केवल 'चाहिए' के समर्थक हैं। 'होना चाहिए' बस इतना जानते हैं—हो या न हो, इससे आपको कोई मतलब नहीं।

वृद्ध—नहीं, मतलब क्यों नहीं, परन्तु बात यह है कि आखिर किया क्या जाय ?

मैं—किया यही जाय कि विधवा-विवाह किया जाय, जिससे कि यह अनाचार न होने पाए।

वृद्ध—विधवा-विवाह ! भाई साफ बात तो यह है कि वैसे तो विधवा-विवाह बुरा ही है ; परन्तु यदि इसके बिना काम न चलता हो तो होने दो।

मैं—होने दो ! मानो आप आज्ञा-पत्र दे रहे हैं। हो ही रहा है और प्रतिदिन अधिक संख्या में होगा। आप लोग चाहे जितना विरोध करते रहें—आपके विरोध करने से होता क्या है ?

वृद्ध—कलिकाल है न, इसमें तो ऐसा हुआ ही चाहे।

मैं—खैर, जब सत्ययुग आ जाय तब न होने दीजिएगा—अब तो निश्चय होगा।

सम्पादक जी ! 'अबलाओं का इन्साफ' पुस्तक प्रकाशित करने के कारण मारवाड़ी-समाज ने आपका बायकाट किया

था। ख़ैर, वह तो आपकी प्रकाशित की हुई पुस्तक थी, इसलिए मारवाड़ी-समाज ने मनमानी की। अब यह जो क़ुदरती इन्साफ़ हुआ है, इसके लिए मारवाड़ी-समाज किसका बायकाट करेगा? ओफ़! ओह! इन लोगों की मूर्खता की भी कोई हद है! जो इनकी मूर्खताओं की ओर सङ्केत करके इन्हे सन्मार्ग दिखाते हैं, उनका ये बायकाट करते हैं और जो ढोंग बना कर इनका घर घालते हैं, उनकी ये पूजा करते हैं। सुना जाता है कि सरकार इस मामले की तहक़ीक़ात करके हीरालाल को दण्ड देने पर उद्यत है। जो मुझसे पूछा जाय तो मैं तो यह कहूँगा कि हीरालाल बेचारे का कोई अपराध नहीं। अपराध उन अन्ध-भक्तों का है, जिन्होंने उसे ज़बरदस्ती देवता बना कर अपना सर्वस्व उसे सौंप दिया। जहाँ किसी व्यक्ति ने ढोंग बना कर उपदेश, व्याख्यान अथवा कथा इत्यादि कहनी आरम्भ की—बस, आँख के अन्धे, गाँठ के पूरे, बुद्धि से हीन लोग ऐसे गिरते हैं कि मानों साक्षात् ईश्वर ही उतर आया। ईश्वर ऐसे लोगों से भारत की रक्षा करे, इसके अतिरिक्त और हम लोग कर ही क्या सकते हैं?

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

महात्मा जी ने समाचार-पत्रों पर जो दोषारोपण किया है, उससे मैं तन-मन-धन से सहमत हूँ। जिस समय महात्मा जी के हृदय में यह बात उठी थी, उसके ठीक पाँच मिनिट और उनसठ सेकेण्ड पश्चात् मेरे मन में भी यही बात उठी कि समाचार-पत्रों से केवल लाभ ही लाभ नहीं, वरन् हानि भी होती है। बल्कि मैं तो यही कहता हूँ कि लाभ कम होता है, हानि अधिक होती है। पूछिए कैसे ? सुनिए—लाभ तो केवल इतना होता है कि लोगों को देश के समाचार मिलते रहने के कारण वे अपने देश की तथा अन्य देशों की वर्तमान अवस्था से परिचित रहते हैं। परन्तु हानियाँ बहुत सी हैं, असंख्य हैं। उन हानियों को गिनाने के लिए कोई वेद-व्यास जन्म ले तब वे गिनाई जा सकती हैं और उनको लेख-बद्ध करने के लिए एक बार पुनः श्रीगणपति सूँड़ हिलाते टपक पड़ें तब वे लेख-बद्ध हो सकती हैं। हमारा-सा क्षुद्र-बुद्धि मनुष्य उनको क्या गिना सकता है और क्या लिख सकता है। अभी कोई डेढ़ हफ्ता

हुआ, जब मुझे स्वप्न में एक देवदूत ने सूचना दी थी कि स्वर्गलोक के समस्त देवता श्रीब्रह्मा जी की सेवा में उपस्थित होकर विनयपूर्वक बोलते भये—"हे चतुर्मुख सृष्टिकर्त्ता! मृत्युलोक में जो आजकल अनेक प्रकार के उपद्रव हो रहे हैं, अनेक प्रकार के अत्याचार तथा अनाचार हो रहे हैं, इन सबका जो है सो, क्या कारण होता भया?" इस पर ब्रह्मा जी अपने दक्षिण दिशा वाले मुख से इस प्रकार बोलते भए कि—"हे मूर्ख देवताओ! तुम जो है सो महा गधे हो। इतनी छोटी सी बात भी तुम्हारी समझ के मिडिल के मध्य के दर्म्यान के बीचोबीच में नहीं आवती भई! ब्रह्म, ब्रह्म! (यह ब्रह्मा जी का 'राम! राम!' है)। इसी ज्ञान-भाण्डार को लैकरकेनी जो है सो तुम स्वयम् को मनुष्यों से श्रेष्ठ समझते हो। धिक्कार है तुम्हारी इस श्रेष्ठता पर! अच्छा अब कान फटफटा कर तथा पूँछ उठाकर मैं जो भाखण करता हूँ उसे श्रवण करो। मृत्युलोक में जो अनेक वाद-विवाद, वैमनस्य, मनोमालिन्य, साम्प्रदायिक कलह, युद्ध, लड़ाई-झगड़ा, लात-जूता, घूँसा-तमाचा, मुँह चिढ़ाना श्री १०८ इत्यादि प्रबल होता जावता भया उसका एकमात्र कारण मृत्युलोक के अधिकांश टके चार पैसे में बिकने वाले समाचार-पत्र ही होते भए।"

इस पर सब देवतागण पुनः विनयपूर्वक इस प्रकार प्रश्न करते भये कि—"हे चतुरानन! ये समाचार-पत्र जो हैं सो

किस प्रकार इन समस्त अनाचारों का कारण होते भए ?"
इस पर ब्रह्मा जी अपना पश्चिम दिशा वाला मुख खोल कर इस प्रकार वाक्-सुधा बरसावते भए कि—"हे अज्ञ देवताओ! वे कारण इतने अधिक हैं कि मेरे चारों मुख भी जो है सो उनका पूर्ण ज्ञान कराने में असमर्थ सिद्ध होते भए!"

इस पर सब देवतागण ठुसर-ठुसर अश्रुवर्षा करते हुए बोलते भए कि—"हे वैष्णव! यदि आपके होते भए भी हम लोग इसी प्रकार बुद्धू तथा बौड़म बने रहे, तो आपको लक्ष बार धिक्कार है। आपको उचित है कि हम सबको लेकर क्षीरसागर में डूब मरें।" इतना सुनते ही ब्रह्मा जी अपने उत्तर दिशा वाले मुख से इस प्रकार बोलते भए कि—"हे रोनी सूरत देवताओ, तुमने क्षीरसागर का नाम लेकर केनी जो है सो मुझे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय का स्मरण करा दिया। अब तुम सीधे विष्णु जी के पास सरपट भागे चले जाओ। वे तुम्हें सब बातें बता देंगे।"

इतना सुनते ही सब देवतागण सितुवा बाँध कर तथा लुटिया-डोर लैकरकेनी क्षीरसागर की ओर प्रस्थान करते भए। क्षीरसागर के मध्य विष्णु जी के सम्मुख पहुँच कर और 'फ़ालइन' होकर कर-बद्ध इस प्रकार कहते भए कि—"हे ब्रह्मा के बाबू (अर्थात्-पिता)—हम जो हैं सो आपके मूर्ख पुत्र के भेजे हुए आपकी शरण में आवते भए। सो आप जो है सो हमारी एक लघु सी शङ्का का समाधान

करो।" विष्णु जी लक्ष्मी जी की गोद से अपने दोनों खुरारविन्द खींच कर इस प्रकार बोलते भए कि—"हे देवतागणो, चीरसागर की तरङ्गों के थपेड़े खाते-खाते मेरा 'माइण्ड' तो 'डल' पड़ गया है। यदि तुम्हें कुछ पूछ-ताछ करनी हो तो सीधे कैलाश पर्वत पर चले जाओ। वहाँ भोले बाबा भाँग छाने, अफीम का गोला जमाए, चण्डू-चरस की दम लगाए बैठे होंगे। सो तुम उनसे जाय करकेनी प्रश्न करना, सो वही तुम्हारी लघु और दीर्घ दोनों शङ्काओं का सदैव के लिए अन्त कर देंगे।"

इतना सुन कर सब देवतागण जो है सो कैलाश पर्वत की ओर धावते भए। वहाँ पहुँच करकेनी उन्होंने देखा, भोले बाबा भस्म रमाए बैठे हैं और पार्वती जी जो है सो भाँग घोट रही हैं। देखते ही देवतागणों की बाछें खिल गईं कि अच्छे समय पर पहुँचे। आज तो एक-एक चुल्लू हम भी पिएँगे, चाहे इधर का ब्रह्माण्ड उधर हो जाय! खैर, देवता लोग बैठे। जब बूटी घुट कर प्रस्तुत होती भई तो भोले बाबा पहले सब देवताओं को थोड़ी-थोड़ी देकर शेष स्वयम् डकार जाते भए। कुछ समय पश्चात् जब सुरूर चढ़ा तो इस भाँति मुख खोलने भए कि—"हे सुरापुत्रो, (सुरादेवी) आज तुम इस योगी के निवास-स्थान पर क्यों दौड़े आवते भए?" इस पर समस्त देवतागण नशे में झूमते हुए बोले कि—"हे त्रिनयन! हम लोग मृत्युलोक के

समाचार-पत्रों के अवगुणों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से जो है सो आपका यह उजाड़खण्ड सुशोभित करते भए। पहले हम विष्णुनाभिज (ब्रह्मा) की सेवा में गए थे; परन्तु वे तो पूरे बछिया के ताऊ निकले। इसके पश्चात् हम लोग उनके पिता के पास गए; परन्तु उनका मस्तिष्क जो है सो क्षीरसागर की तरङ्गों के थपेड़ों से बिलकुल गोबर हो जावता भया, अतएव उन्होंने हमें आपके पास दौड़ा दिया। अब आप कृपा करके हमारे संशय को दूर कर दीजिए।" इस पर भोले बाबा आधे नेत्र खोल कर बोले—"अरे मूर्खों! विष्णु जी तुमको उल्लू बनावते भए। इसका रहस्य बताने वाला तो प्रत्येक समय उनकी खोपड़ी पर डटा रहता है। मैं इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता, और सच बात तो यह है कि इस समय जो है सो नशा बड़े जोरों का है, इस समय हम कुछ नहीं बता सकते। तुम्हें उचित है कि पुनः विष्णु जी के पास चले जाओ; परन्तु उनसे प्रश्न न करके उनके शेषनाग से प्रश्न करना, वह तुम्हें सब बता देंगे। उनकी जीभ कतरनी की तरह चलती है। मृत्युलोक के समाचार-पत्रों के अवगुण केवल वही बता सकते हैं।"

यह सुनते ही देवता लोग रोते-झींकते पुनः क्षीरसागर की ओर बैरङ्ग लौटते भए और विष्णु भगवान् के सम्मुख जाकर उपस्थित हो जावते भए। विष्णु जी उन्हें देख कर बोले—"क्यों, पूछ आए?" सुरगण बोले—"आप चुप

रहिए, आपसे हम बात नहीं करना चाहते। आपने हमें मुफ्त में इतनी दूर दौड़ाया और यह मुदई, जो आपके सिर पर डटा है, टुकुर-टुकुर देखता रहा। इस दुष्ट ने यह भी न कहा कि इतनी दूर क्यों दौड़े जाओगे, हम बताए देते हैं।" यह सुनते ही विष्णु भगवान् हँस करकेनी बोले—"हम जानते थे कि तुम यहाँ लौट कर आओगे। अच्छा शेषनाग जी, अब आप इन्हें बता दीजिए, बेचारे बड़े हैरान हो चुके हैं।"

यह सुनते ही शेषनाग जी अपने बीचोबीच वाले मुख से इस प्रकार बोलते भए कि—"हे अल्पज्ञो! यद्यपि मैं तुम्हें समाचार-पत्र के सब अवगुणों का परिचय नहीं दे सकता, यदि मेरे कुछ मुख और होते तो कदाचित् मैं ऐसा कर सकता; परन्तु इस अवस्था में मेरे लिए जो है सो ऐसा करना असम्भव होता भया। मृत्युलोक के अनेक पैसइहल, टकइहल, चौपैसइहल समाचार-पत्र अपनी अधिक करने के निमित्त नित्य सनसनीपूर्ण उक्सान बोल उत्तेजित करने वाले, भड़काने वाले, लड़ाने वाले, एक दूसरे का शत्रु बनाने वाले, झूठे-सच्चे समाचार छाप-छाप कर जनता के मस्तिष्क को बिगाड़ देते भए। मूढ़ जनता इन टकालोलुप सम्पादकों की बातों में आय करकेनी बिगड़ जाती भई और तबेले में लतिहाव करती भई। ये सम्पादक लोग तिल का ताड़ और कण का पहाड़ बनाय करकेनी भोली-भाली जनता के सम्मुख रखते

भए और अपने समाचार-पत्र के निमित्त मसाला एकत्र करने के अभिप्राय से ज़बरदस्ती अपने बुरे-भले विचार जनता के मस्तिष्क में ठूँस कर जनता में विरोध-भाव उत्पन्न करते भए। सो हे देवताओ! यदि तुम्हें अपने पापों का फल भोगने के निमित्त कभी मृत्युलोक में जन्म लेना पड़े तो इन समाचार-पत्रों से अलग रहना। यदि इनको पढ़ना भी तो इनके समाचारों पर विश्वास मत करना, अन्यथा परस्पर लड़ते-लड़ते नष्ट हो जाओगे। बस, इससे अधिक और मैं कुछ नहीं बता सकता।" यह सुन सब देवता अपने-अपने धाम को चले जाते भए।

सो हे सम्पादक जी महाराज, शेषनाग जी की यह आज्ञा मैं भी शिरोधार्य करता भया और समाचार-पत्रों का अधिक पढ़ना छोड़ देता भया। आशा है, आप भी ऐसा ही करेंगे।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महराज,

जय राम जी की !

हाल में उन्नाव में "कान्यकुब्ज-सम्मेलन" जिसे देहाती भाई कनौजिया-सम्मेलन कह कर पुकारते हैं, हुआ था। जातीय सम्मेलन होने के कारण मैं भी गया था—मेरी शामत आई थी और क्या कहूँ। वह कहावत है "करघा छोड़ तमाशे जाय, नाहक चोट जुलाहा खाय।" सो वही दशा हुई। मुझे क्या पता था कि वहाँ "ईंट-पत्थर-सम्मेलन" होगा। बड़े-बड़े कुलीन कनौजिया पधारे थे। 'अरहा' की दाल खाए, भाँग पिए—चूना और तमाखू मलते हुए "थाखौ-थाखौ" करते हुए अनेक देहाती भाई भी पधारे थे। सोचा था कि इस सम्मेलन में कुछ काम की बातें होंगी, परन्तु वही ढाक के तीन पात निकले। "आठ कनौजिया नौ चूल्हा" वाले यदि एक स्थान पर मिल कर कोई काम की बात करें तो आश्चर्य है। जो लोग लाठी-डण्डा चलाने, जूता-लात करने में ही गर्व समझते हों, वे मिल कर कैसे बैठें—नाक न कट जाय ! सो सम्पादक जी, इसी तूफ़ाने-बेतमीजी में मैं भी जा फँसा था। किसी पाप-ग्रह की दशा आई थी।

मैं जिस स्थान पर बैठा था, वहाँ अधिकांश पुराने ठाट के कुलीन कनौजिया बैठे थे। जिस समय सहभोजता का प्रस्ताव रक्खा गया और उस पर व्याख्यान आरम्भ हुए, तो एक महाशय बोले—"यौ तो महा अनर्थ होइ रहा है। एहिते तौ सब सण्डभण्ड होइ जाई।" मैंने कहा—"महाशय जी, यह तो केवल पूरी-कचौरी की सहभोजता का प्रस्ताव है।" वह बोले—"तौ पूरी-कचौरी का आप का समझत हौ?" मैंने कहा—"मैं तो पूरी-कचौरी को विष समझता हूँ—जिस दिन खा लेता हूँ, उस दिन खट्टी डकारें आने लगती हैं और क़ब्ज़ हो जाता है। वाक़ई ऐसी गरिष्ट वस्तु की सहभोजता तो कदापि नहीं होनी चाहिए।" वह बोले—"नाहीं, नाहीं, हमार यौ मतलब नहीं हवै। हम कहित है कि पूरी-कचौरी की सहभोजता माँ धर्म नष्ट न होई का?" मैंने कहा—"अजी पूरी-कचौरी तो एक बहुत बड़ी चीज़ है, हम लोगों का धर्म तो विधर्मियों की छाया तक पड़ जाने से नष्ट हो जाता है। मेरा बस चले तो मैं यह प्रस्ताव पास कराऊँ कि जो कान्यकुब्ज किसी व्यक्ति को पूरी-कचौरी खाते देख ले तो उसका धर्म नष्ट हो गया।" इतना सुनते ही वह महाशय रेशाख़तमी हो गए और दाँत निकाल कर बोले—"आप तो मसखरी करत हौ।" मेरे एक मित्र, जो मेरे साथ गए थे, बोल उठे—"हँसे मुहई, हँसे।" वह बोले—"हँसन न का रोवन, आप बातै हँसी की

कहत हो। हम सची कह दैन ? एक नहीं चाहै बावन प्रस्ताव पास होयँ, पर हम तौ पूरी-कचौरी की सहभोजता कबहूँ नहीं कर सकित हैं।" मैंने कहा—"खैर, पूरी-कचौरी की न सही, रोटी-दाल की सही—रोटी-दाल हलका भोजन है, इसकी सहभोजता में किसी प्रकार का खतरा नहीं है।" इतना सुनते ही वह महाशय उछल पड़े, बोले—"हैं, रोटी-दाल की सहभोजता ! अरे बाप रे बाप ! मेरा तो कलेजा धड़कने लगा !" मैंने सोचा, कहीं इन्हें ग़श न आ जाय, अतएव मैं बोला—"जाने दीजिए, आप जो कहें वही ठीक है, अब ज़रा व्याख्यान सुनिए।" व्याख्यानदाता महाशय गला फाड़-फाड़ कर लोगों को सहभोजता के लाभ समझा रहे थे। काहे की सहभोजता ? पूरी-कचौरी की, पकवान की ! ओफ़ ओह ! इस बीसवीं शताब्दी में भी पूरी-कचौरी की सहभोजता के लिए व्याख्यान देने पड़ते हैं, प्रस्ताव पास करने पड़ते हैं। सम्पादक जी, हमारी कनौजिया जाति भी अजायबघर में रखने योग्य है। संसार उन्नति करके कहाँ से कहाँ पहुँचा और हमारे भाई अभी पूरी-कचौरी का ही मसला लिए बैठे हैं। ठीक है ! पहले पेट का प्रश्न तो हल हो जाय। सबसे बड़ा प्रश्न तो यही है। यद्यपि, जो सच पूछिए तो, हमारे ७५ प्रति सैकड़ा भाई पूरी-कचौरी तो गई जहन्नुम में, साबित मुर्ग़ी निगल जाते हैं, परन्तु चुरा-छिपा कर! किन्तु जब परस्पर बैठते हैं तो ऐसी बातें करते हैं कि जिससे

प्रकट होता है कि अपनी जोरू का बनाया भोजन भी गङ्गा-जल में धोकर खाते होंगे। इस ढोंग का भी कुछ ठिकाना है? ख़ैर साहब, किसी न किसी प्रकार उन लोगों के कारण, जो व्यक्तिगत रूप से पूरी-कचौरी की सहभोजता का प्रस्ताव वर्षों पहले पास कर चुके थे, वह प्रस्ताव पास हो गया। हर्ष-ध्वनि से मण्डप गूँज उठा—जान पड़ा, अकाल के मारे हुओं को पूरी-कचौरी बाँटी जा रही है। "अब क्या है, अब तो जो रोटी-दाल खाय उस पर लानत है। अब तो सवेरे ही मङ्गली हलवाई की दूकान से गरमागरम मँगा कर कलेवा किया करेंगे। ब्याह-बारातों से कच्चा भोजन इस प्रकार उड़ जायगा, जैसे गधे के सिर से सींग। अरे भाई, सुनते हो, कनौजियों मे पक्का भोजन बनाने वाले अच्छे बावर्ची कहाँ मिलेंगे"—अबकी मन्ना के ब्याह में उन्हीं को बुलावेंगे। हमारे गाँव में एक आदमी है—मैदे की पूरी ऐसी सुन्दर बनाता है कि ज़रा भी कच्ची नहीं रहने पाती और आलू तो ऐसे कल्हारता है कि बस, दाँतों के नीचे कोयले की तरह कर्र-कर्र बोलते हैं!"

इसी समय एक महाशय मञ्च पर खड़े होकर बोले—"सज्जनो, इस प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए आज रात को पूरी-कचौरी का भोज होगा।" इतना सुनते ही लोग बोल उठे—"वाह वाह! ईश्वर करे ऐसे प्रस्ताव रोज़ पास हुआ करें। ईश्वर करे आज जल्दी से रात हो जाय!

देखौ भाई, लुचुई जरूर बनै और सीताफल का चटपटा साग।" एक महाशय बोल उठे—"चाहे जौन बनै दादा, हम तो पास न फटकब, हमैं लुचुई छिनार खातिर धरम नहीं देय का है।" मैंने कहा—"कदापि न जाना, यदि तुम पर लुचुई की परछाईं भी पड़ जायगी तो जन्म-जन्मान्तर के लिए नरक-गामी हो जाओगे।" उस दिन रात को लोग खुल-खेले। जो पहले ही से अभ्यस्त थे, वे तो बेधड़क जुट गए, परन्तु जो पहले-पहल रोज़ा खोल रहे थे, उनकी यही दशा थी कि जान पड़ता था कि अपनी ही तेरही का भोजन खा रहे हैं। ख़ैर, यह मसला तो किसी न किसी प्रकार तय हो गया। अन्तिम दिन विधवा-विवाह का प्रस्ताव उपस्थित होने वाला था। इसके लिए लोग पहले ही से कनवेसिङ्ग कर रहे थे। एक कट्टर कान्यकुब्ज मुझसे बोले—"हुँह, हमरे रहते जो विधवा-विवाह पास होइ जाय तो बड़े ही गजब की बात है।" मैंने कहा—"कदापि न पास होने दीजिएगा, नहीं तो यह लम्बी नाक जड़ से साफ हो जायगी।" वह बोले—"हम लोगन माँ जब कुँआरी ही का ब्याह नहीं होता है, तब विधवा-विवाह कैसे होइ सकत है। हमारे लोगन माँ साठ-साठ बरस की कुँआरी बैठी हैं, तब विधवन का को पूँछत है।" मैंने कहा—"शाबाश है! यही बात है। मेरी सलाह तो यह है कि आप यह प्रस्ताव पास करा दीजिए कि स्त्रियों का विवाह ही न किया जाय। और क्या—न रहेगा बाँस न बजेगी

बाँसुरी। जब विवाह ही न होगा तो विधवा कैसे होंगी और जब विधवा न होंगी तो विधवा-विवाह किसका होगा।" वह मुस्करा कर बोले—"बात तौ पक्की है—मुदा एहिमाँ मरदनौ का तो नकसान है।" मैं बोल उठा—"हाँ यह तो अवश्य है, और यह बड़े घाटे की बात है। औरतें चाहे जहन्नुम में चली जायँ, पर मरदों की तनिक भी हानि न हो। कनौजियों की यही शान है।"

एक दूसरे नामधारी कान्यकुब्ज-कुल-भूषण बोले—"न जाने लोग मेहरियन खातिर परान काहे तजे देत हैं। हम लोगन माँ मेहरियन का पूछत को है। चकिया पीसा करत हैं और जौ-बेझरा खात हैं—पड़ी रहत हैं।" मेरे मित्र बोल उठे—"कान्यकुब्जों का यही आदर्श है। इसीलिए तो कान्य-कुब्ज जाति इतनी उन्नति कर रही है। कोई स्टेशन ऐसा न मिलेगा, जहाँ कोई कान्यकुब्ज-कुल-तिलक लोटा-डोल लिए न डटा हो। यू० पी० में विधवाओं की संख्या भी कान्य-कुब्जों में ही अधिक मिलेगी। यह सब उन्नति के ही लक्षण हैं।" एक बिगड़े-दिल विधवा-विवाह के पक्षपाती बोल उठे—"क्यों जनाब, जब विधवाएँ यारों के साथ निकल जाती हैं, तब तो आपकी नाक मेंहदी की डाल की तरह बढ़ती है। मेंहदी की डाल में यह गुण है कि जितनी कटती है, उतनी ही बढ़ती है।" वह महाशय बोले—"अजी निकल जात हैं तो आपन ही जनम खराब करत हैं। हमार

का लै जात हैं ? एक नहीं, बावन दफे निकल जायँ, हमरे ठेंगे से।"

मैंने कहा—"जब यह बात है, तब आप जो कुछ कहें सब ठीक है। आप ही जैसे लोगों से कान्यकुब्ज जाति की शोभा है। धन्य है, आप तो पूजा के योग्य हैं। जब तक आप जैसे लोग जीवित हैं, तब तक गुण्डों की चाँदी है।" इस पर वह बिगड़ कर बोले—"चाँदी है के क्या अर्थ ? हम देख पावन तो मारे लाठी के चोकर कर देन !" मैंने कहा—"जब आप इतने उदार हैं, तब आप देखते ही काहे को होंगे—आँखें बन्द कर लेते होंगे। सोचते होंगे, अच्छा है निकल जाने दो, एक खाने वाला ही कम होता है।"

सो सम्पादक जी, ऐसे ही आदमियों के कारण विधवा-विवाह का प्रस्ताव पास न हो सका। पास होना तो अलग रहा, उसका स्वागत ईंट-पत्थर से किया गया। मैंने तो क़सम खा ली है कि कान्यकुब्जों की किसी ऐसी सभा में न जाऊँगा, जिसमें विधवा-विवाह का प्रस्ताव रक्खा जाने वाला होगा, क्योंकि यह जाति तो विधवाओं की संख्या बढ़ाने पर तुली हुई है, इसलिए विधवा-विवाह का नाम सुनते ही विधवाओं की संख्या बढ़ाने का कार्य करने लगती है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आजकल जिधर देखिए दलबन्दी का राज्य है। और चारों ओर दलबन्दी ही दलबन्दी है। कॉङ्ग्रेस में दलबन्दी, हिन्दू-सभाओं में दलबन्दी, पत्रों में दलबन्दी, जातियों में दलबन्दी, हिन्दू-मुसलमानों में दलबन्दी, मेम्बरी के चुनाव में दलबन्दी, लेखकों में दलबन्दी, कवियों में दलबन्दी। कहाँ तक गिनाऊँ बात-बात में दलबन्दी दिखाई पड़ती है। यह दलबन्दी का रोग बुरी तरह पञ्जे झाड़ कर भारतवर्ष के पीछे पड़ा है। मेरे एक मित्र ने एक दिन कहा था कि अभी क्या हुआ है। अभी वह जमाना आवेगा जब कि बाप-बेटों में, माँ-बेटी तथा पति-पत्नी मे दलबन्दी होगी। आपकी इस सम्बन्ध में क्या राय है? मैंने इस बात पर बहुत ग़ौर किया और ख़ूब दिमाग़ खपाया। यही सोचता-सोचता सो गया तो भङ्ग की तरङ्ग में मैंने एक स्वप्न देखा। वह स्वप्न इस प्रकार है—"मैंने देखा कि मै एक बड़ा क़ाबिल आदमी हो गया हूँ। सब लोग मेरी इज्जत करते हैं, हालाँकि पीठ-पीछे बुराई भी करते रहते हैं, परन्तु मुँह पर मेरी प्रशंसा के पुल बाँधने में कसर नहीं करते। म्युनिसि-

पैलिटी का चुनाव आया है और मै उसके लिए उम्मीदवार होकर खड़ा हुआ हूँ। इधर लल्ला की महतारी ने भी बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली है, अब वह पहले की तरह एक साधारण हिन्दू-महिला नहीं रही। अब वह आँखो पर चश्मा चढ़ाती है। स्त्रियो की एक समिति है, उसकी वह मन्त्रिणी है। मुझसे छिपा-चुरा कर वह सिगरेट भी पीने लगी है। खूब व्याख्यान फटकारती है। समिति में पुरुषों के विरुद्ध खूब प्रस्ताव पास होते है। मैं म्यूनिसिपैलिटी के लिए खड़ा हुआ हूँ, यह जान कर उसने भी उसी की उम्मीद-वारी के लिए कमर कसी है। इस पर मैने उससे पूछा—यह क्या बदतमीज़ी है ? जब कि तुम्हे सरासर यह मालूम है कि मैं बोर्ड के लिए खड़ा हुआ हूँ तो तुम्हे इस बात की क्या आवश्यकता थी कि तुम भी खड़ी होती। इस अवसर पर तुम्हे यह उचित था कि तुम चुपचाप घर में बैठी रहतीं।

उसने उत्तर दिया—यह नही हो सकता। जिस प्रकार तुम्हे म्यूनिसिपैलिटी मे जाने का अधिकार प्राप्त है, उसी प्रकार मुझे भी है।

मैने कहा—पर यह अधिकार जब तक मै तुम्हे न दूँ, तब तक तुमको कोई अधिकार नही है कि तुम ऐसी बद-तमीज़ी करो।

उसने पूछा—क्या म्यूनिसिपैलिटी के लिए खड़ा होना बदतमीज़ी है ?

मैंने कहा—बेशक !

वह—तो तुम क्यों खड़े हो रहे हो ?

मैंने कुछ घबरा कर कहा—पुरुषों के लिए बदतमीज़ी नहीं है, स्त्रियों के लिए है।

उसने कहा—जो पुरुष के लिए अमृत है, वही स्त्री के लिए भी अमृत है। और जो पुरुष के लिए विष है, वह स्त्री के लिए भी है।

मैंने कहा—विष और अमृत के लिए चाहे यह ठीक हो, पर म्यूनिसिपैलिटी के लिए यह बात ठीक नहीं।

उसने पूछा—क्यों ?

मैंने कहा—इसका कारण तो कोई मैं नहीं दे सकता, पर मेरी आत्मा यह कहती है कि यह बात ठीक नहीं है।

वह—मेरी आत्मा यह कहती है कि यह बात ठीक है।

मैं—स्त्रियों को ईश्वर ने गृहस्थी का कार्य करने के लिए बनाया है। स्त्रियों को वही शोभा देता है। उन्हें इस प्रकार पुरुषोचित कामों में टाँग अड़ाना शोभा नहीं देता।

वह—और देशों में तो स्त्रियाँ ऐसे कामों में भाग लेने लगी हैं। यहाँ तक कि पुलिस और सेनाओं में भी स्त्रियाँ प्रविष्ट होती जा रही हैं।

मैं—जहाँ ऐसा होता है वहाँ घोर कलिकाल का आधिपत्य हो गया है।

वह—तो क्या यहाँ कलिकाल का आधिपत्य नहीं हुआ ?

मैं—हो तो जाता, परन्तु मेरे मारे जब होने पावे तब न !

वह—क्यों, क्या तुम उसे पकड़े हुए हो ?

मैं—मैं और मेरे ऐसे सब बुद्धिमान् लोग इस बात की चेष्टा में हैं कि कलिकाल भारतवर्ष में फटकने भी न पावे, आधिपत्य होना तो दूर की बात है।

वह—इन बातों से कोई लाभ न होगा। मैं म्यूनिसिपैलिटी के लिए अवश्य खड़ी होऊँगी।

मैं—ऐसी भूल कदापि न करना। एक घर के दो आदमी जायँगे तो लोग क्या कहेंगे ?

वह—एक घर के दो आदमी तो क्या, यदि एक घर के सब आदमी पहुँच जायँ तो आज ही स्वराज्य प्राप्त हो जाय।

मैं—यह कैसे ?

वह—मान लो एक घर में पचास आदमी हैं। अब यदि वे सब पहुँच जायँ तो वे सब मिल कर जैसे प्रस्ताव चाहें, पास करा लें।

मैं—हूँ, कहती तो ठीक हो, मुझे अफसोस है कि अपने घर में हमें तुम्हें मिला कर टुटुरूँटूँ केवल दो आदमी हैं। यदि आज हमारे दो-तीन दर्जन जवान-जवान लड़के होते तो बड़ा आनन्द रहता, कल ही देश स्वतन्त्र हो जाता। लल्ला अभी नाबालिग़ है, नहीं तो उसे भी खड़ा कर देते—कम से कम एक घर के तीन तो हो जाते। तीन आदमी एक सौ ग्यारह के बराबर होते हैं।

वह—अब तुम समझदारी की बातें करते हो।

मैं—परन्तु जब तीन आदमी नहीं हैं, दो ही हैं, तब ऐसी दशा में यह उचित है कि दो न खड़े होकर एक ही खड़ा हो।

वह—यदि तुम ऐसा समझते हो तो तुम बैठ जाओ, मैं खड़ी रहूँगी।

मैं तुरन्त चारपाई पर बैठ गया और बोला—बैठने को कहो तो मैं दस दफ़े उठूँ-बैठूँ, पर म्यूनिसिपैलिटी में मेरा ही जाना उचित है।

इस बात पर बड़ा वाद-विवाद हुआ। लल्ला की महतारी न मानी। परिणाम यह हुआ कि उधर उसने अपने लिए चेष्टा आरम्भ की, इधर मैंने अपने लिए। कुछ लोग मेरा पक्ष ले रहे हैं, पर अधिकांश आदमी उस ओर हैं। जहाँ वह खड़ी हो जाती है, वहाँ उसके पास आदमियों की भीड़ लग जाती है। उसके मुकाबले में अपने राम को ज़रा लोग कम पतियाते हैं—यद्यपि मैं योग्यता में उससे चार-छः माशे अधिक ही हूँ। दिन भर हम लोग वोटरों की तलाश में घूमते हैं—रात को घर में आकर एक साथ भोजन करते हैं और एक जगह सोते हैं, पर दिन में एक-दूसरे की सूरत देखना उचित नहीं समझते। कुछ दिनों तक यही दशा रही, अन्त में एक दिन मेरे और उसके आदमियों में झगड़ा हो गया। दोनों ओर से लाठियाँ चलीं—एक लठ मेरी खोपड़ी पर भी पड़ा। लठ पड़ते ही आँखें खुल गईं। देखा

तो चारपाई पर पड़ा हूँ। सुबह हो चुकी है। लल्ला की महतारी—'श्रीरामचन्द्र कृपालु' गा रही है और लल्ला के छोटे भाई को, जो अभी ईश्वर की दया से छः महीने का है, पाखाना फिरा रही है। मैं बोल उठा—लल्ला की महतारी तुम्हारे आदमी बड़ी ज्यादती कर रहे हैं, यह अच्छी बात नहीं, उन्हे मना कर दो।

लल्ला की महतारी भौचक्की होकर मेरी ओर देखने लगी और बोली—तुम क्या बक रहे हो?

अब मुझे होश आया और समझा कि मैंने स्वप्न देखा है।

ख़ैर, यह तो स्वप्न था; परन्तु आजकल की दलबन्दियाँ देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि एक दिन वह आने वाला है, जब मेरा स्वप्न अक्षरशः प्रत्यक्ष हो जायगा। क्यों, आपकी क्या राय है?

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

लोग कहते हैं कि मुसीबत अकेली नहीं आती, सो यह कहावत मेरे ऊपर अक्षरशः चरितार्थ हुई। कानपुर की कॉङ्ग्रेस देखने की उत्सुकता हृदय में इतनी प्रबल थी कि यद्यपि बीमारी के कारण इस योग्य न था कि घर के बाहर निकलूँ; परन्तु फिर भी किसी न किसी प्रकार हृदय को कड़ा करके यह पक्का इरादा कर लिया कि इस बार यदि कॉङ्ग्रेस न देखी तो नर-देह धारण करना व्यर्थ हो जायगा, अतएव कॉङ्ग्रेस अवश्य देखनी चाहिए। जब इरादा पक्का हो गया तब दूसरी मुसीबत सामने आई—वह थी ख़र्च की। कॉङ्ग्रेस में जाने के लिए ख़र्च कहाँ से आवे ? इस पर तुर्रा यह है कि लल्ला की महतारी भी चलने के लिए कमर कस कर तैयार हो गई। मैंने कहा भी कि तुम क्या करोगी चलके, पर उसने तुनक कर जवाब दिया—"क्या तुम्हीं बड़े शौक़ीन हो—तुम्हीं बड़े कॉङ्ग्रेस-भक्त हो ? मैं भी किसी बात में तुमसे कम नहीं हूँ। मैं अवश्य चलूँगी।" मैंने सोचा ख़ैर, चलने दो अपना क्या हर्ज है। साथ में रहने से आराम ही मिलेगा।

ख़ैर, लल्ला की महतारी का चलना भी निश्चित हो गया। अब फ़िक्र हुई कि दो आदमियों का ख़र्च कहाँ से लाया जाय। पास टका नहीं और कॉङ्ग्रेस के लिए तैयार—फिर एक न दो, पूरा घर भर। ख़ैर जनाब, पहले तो मैंने सोचा कि लल्ला की महतारी का गहना कहीं गिरवी धरके काम निकालना चाहिए, परन्तु इस पर लल्ला की महतारी राज़ी न हुई। उसने कहा—गहना गिरवी नहीं धरा जा सकता। मेले-तमाशे में तो गहनों की आवश्यकता ही पड़ती है। ऐसे अवसर पर गहना गिरवी धरना बदनामी का कारण होगा। ख़ैर, इस ओर से निराश होने पर यह किया गया कि दस किसी से लिए, पाँच किसी से लिए। इस प्रकार यथेष्ट रुपए एकत्र करके २५ तारीख़ को कानपुर के लिए रवाना हुए। हमारी गाड़ी सुबह कानपुर पहुँचने वाली थी। रात को बारह-एक बजे तक जागते रहे, इसके पश्चात् जो लम्बी तानी तो नौ बजे आँख खुली। एक मुसाफ़िर से पूछा, "क्यों महाशय, कानपुर कितनी दूर रह गया?" उसने उत्तर दिया—"कानपुर तो कभी का निकल गया, अब तो आप फ़तेहपुर से आगे निकल आए!" इतना सुनते ही जान निकल गई। झट से लल्ला की महतारी को जगाया और उससे सब हाल कहा। उसने कहा—"चलो, यह भी अच्छा हुआ। अब प्रयागराज चले चलो, वहाँ त्रिवेणी में स्नान करके कल लौटेंगे।"

खैर साहब, प्रयागराज पहुँचे। वहाँ कानपुर से प्रयाग तक का अधिक किराया देने के बाद स्टेशन से बाहर पहुँचे। एक धर्मशाला में बिस्तर जमाया। दिन में त्रिवेणी-स्नान किया, सन्ध्या-समय गहरी छान कर चौक की सैर की। रात को फिर लद-फँद कर स्टेशन पहुँचे और गाड़ी में सवार होकर कानपुर की ओर चले। इस बार यह निश्चय कर लिया था कि रात भर जागरण करेंगे, क्योंकि गाड़ी सवेरे चार बजे कानपुर पहुँचती थी। खैर साहब, रात के दो बजे तक तो किसी न किसी प्रकार जागते रहे, पर इसके बाद पता नहीं, कब और कैसे नींद आ गई। आँख खुली तो देखा कि खूब दिन चढ़ आया है—जान निकल गई। एक साहब से पूछा "—क्यों महोदय, इस समय कितने बजे होंगे?" उन्होंने कहा—"नौ बजने के निकट है।" मैंने कहा—"भई वाह, इन नौ बजे ने मेरा अच्छा पिण्ड पकड़ा है। इधर से जाते हुए भी नौ बजे आँख खुली और उधर से आते हुए भी नौ बजे होश आया। अब क्या किया जाय। गाड़ी फफूँद के निकट पहुँच रही थी। फिर लल्ला की महतारी से सलाह गाँठी। उसने कहा—चलो यह भी अच्छा हुआ। इधर से मथुरा जी होते चलें। बहुत दिनों से मथुरा जी देखने की लालसा लगी हुई थी। खैर साहब, हाथरस पहुँचे, वहाँ से मथुरा जी की गाड़ी में बैठे। मथुरा जी पहुँच कर एक पण्डे के यहाँ ठहरे। एक दिन मथुरा जी रहे। पास-पल्ले जो कुछ था, वह

सब खर्च हो गया—अब केवल घर लौटने भर के पैसे बच रहे।

दूसरे दिन घर का टिकट लेकर गाड़ी पर सवार हुए—तीसरे दिन घर पहुँचे। ज्योंही मित्रों को हमारे लौटने की सूचना मिली, सब एक-एक करके आने लगे। अब जिसे देखिए वह यही प्रश्न करता है कि कॉङ्ग्रेस में क्या देखा? मैं किससे कहूँ और क्या कहूँ। अन्त में मैंने सोच-समझ कर ऐसे उत्तर देने आरम्भ किए कि जिससे कोई भकुआ यह भी न समझ सका कि यह कॉङ्ग्रेस नहीं गए। सबको यही विश्वास हो गया कि यह अवश्य कॉङ्ग्रेस देख कर आए हैं। एक महोदय ने प्रश्न किया—कॉङ्ग्रेस में कितने आदमी थे?

मैंने कहा—जनाब, आदमियों की न पूछिए—तिल धरने की जगह न थी।

उन्होंने प्रश्न किया—हज़ारो आदमी होंगे?

मैंने उत्तने दिया—हज़ारों क्या, सैकड़ों आदमी थे, ऐसी कॉङ्ग्रेस तो आज तक हुई ही नहीं।

वह—तिलकनगर कैसा बना था?

मैं—बस, आज तक ऐसा नगर नहा बना था—नगर क्या, पूरी बस्ती थी—जो चीज़ चाहिए वहाँ मिलती थी।

वह—सुना, सब चीज़ों की दूकानें वहाँ थीं?

मैं—यानी बस आप यह समझ लीजिए कि पूरी और पान तक की दूकानें थीं—हद है।

वह—और पेण्डाल कैसा बना था ?

मैं—पेण्डाल क्या, पूरा पेण्डाल था। ऐसा पेण्डाल तो मैंने कभी देखा ही नहीं।

वह—भला पेण्डाल में कितने आदमी बैठ सकते थे ?

मैं—चाहे जितने आदमी बैठते चले जायँ—जिसके पास टिकट हो वही बैठ सकता था।

वह—हाँ, व्याख्यान कैसे हुए ?

मैं—ओहो, इसके बारे में मत पूछिए, ऐसे व्याख्यान तो आज तक सुने ही नहीं।

वह—सुना, मालवीय जी ख़ूब बोले।

मैं—ऐसे बोले कि लोग मुग्ध हो गए।

वह—सभानेत्री का भाषण भी सुना अच्छा था ?

मैं—एक अच्छा कि बहुत अच्छा। ऐसा भाषण तो आज तक सुना ही नहीं।

वह—प्रदर्शिनी कैसी थी ?

मैं—प्रदर्शिनी का क्या कहना—ऐसी प्रदर्शिनी तो आज तक देखी ही नहीं ?

वह—प्रबन्ध कैसा था ?

मैं—बस क्या कहूँ, मुझे यह भी नहीं मालूम कि मैं काँङ्ग्रेस गया था या नहीं—यह तक पता नहीं कि मैं कान-

पुर में था या कहीं और—बस, यह मालूम होता था कि मैं कानपुर-कॉङ्ग्रेस में नहीं आया हूँ, वरन् प्रयागराज या मथुरा जी में बैठा हूँ।

वह—आप बड़े भाग्यशाली हैं—हम तो जा ही नहीं सके।

इसी प्रकार के उत्तर देकर मैंने अपना पिण्ड छुड़ाया। आज तक किसी को पता नहीं कि मैं कॉङ्ग्रेस नहीं गया था। सब यही समझते हैं कि मैं गया था। कहिए सम्पादक जी, ठीक किया न?

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

६

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आपने समाचार-पत्रों में पढ़ा होगा कि बिहार में पर्दा-प्रथा दूर करने के लिए कितना विकट आन्दोलन हो रहा है। आपकी इस सम्बन्ध में क्या राय है—आप पर्दे को अच्छा समझते हैं या बुरा ? मैं किसी ज़माने में स्त्री के लिए पर्दा उतना ही आवश्यक समझता था, जितना कि पुरुष के लिए बेपर्दगी। पर वह समय दूसरा था—उस समय में अन्तःपुर में कोई पुरुषवाची जड़-पदार्थ तक न जाने पाता था, चैतन्य की कौन कहे ? एक बार हमारा छोटा भाई एक बिल्ला ले आया, इस पर हमारे बाबा ने उसे बुरी तरह डाँटा कि घर में बिल्ला क्यों लाया ? यदि पालना है तो बिल्ली पालो ; और जो बिल्ला ही पालना है तो उसे मर्दाने में रक्खो, ज़नाने में मत आने दो। या उसे ऐसी कला सिखाओ कि ज़नाने में आया करे तो खाँस-खखार कर आया करे। कुछ दिनों बिल्लेराम मर्दाने में बँधे रहे। जब यह समझ लिया कि अब बिल्ले जी को मर्दानी सङ्गति से स्नेह हो गया होगा, तब एक दिन वह खोल दिए गए। खुलते ही

बिल्ले जी सीधे अन्तःपुर में पहुँचे। उन्हे देखते ही स्त्रियाँ इस प्रकार भागीं, मानो साक्षात् श्वसुर जी आ गए। बाबा अलग बिगड़े। बोले—यह बिल्ला बदमाश मालूम होता है—छूटते ही साला सीधा वहीं पहुँचा, जहाँ इसे न पहुँचना चाहिए था, निकाल बाहर करो पाजी को! ऐसे गुण्डों का निभाव यहाँ न होगा। फिर क्या था, बिल्ले जी गुण्डे बना कर निकाले गए।

एक बेर हमारी दादी हमारे बाबा के साथ दिल्ली गईं। दादी ने क़ुतुब साहब की लाट देखने की इच्छा प्रकट की। बाबा ने कहा—"वहाँ पर पुरुषों की बहुत भीड़ होती है—वहाँ चलना ठीक नहीं!" इसी प्रकार आगरे गए तो इन्हीं पर-पुरुषों के भय से ताजमहल के पास भी न फटके। दिखाने क्या ले गए, यमुना का निर्जन तट! जहाँ उल्लू बोल रहे थे—वहाँ पर-पुरुष का चिन्ह भी नहीं था। केवल हमारे बाबा ब्रह्म-स्वरूप और दादी माया-स्वरूप विद्यमान थीं। यह उस समय की घटना है, जब हमारे बाबा ६० के लगभग तथा दादी ५० के ऊपर थी। जवानी मे क्या दशा रही होगी, यह ईश्वर जाने!

मैंने एक दिन पूछा—दादी, जवानी में तो बाबा तुम्हारा इससे भी अधिक पर्दा करते रहे होंगे?

दादी बोलीं—जब मैं ब्याह के आई, तब १६ वर्ष की थी। जिस घर में रहते थे, उस घर के सामने की सड़क

पहले-पहल अच्छी तरह मैंने बीस वर्ष की उमर में देखी। तुम्हारे बाबा ने सैकड़ों रुपए लोप-अञ्जन की खोज में फूँक दिए।

मैंने पूछा—लोप-अ न क्या होता है?

दादी ने बताया—लोप-अञ्जन एक ऐसा अञ्जन होता है कि उसे लगा लेने से आदम :बको देखता है और उसे कोई नहीं देखता। सो मेरे लिए उसकी बहुत खोज की—न जाने कितने साधू-सन्तों की सेवा की, पर वह नहीं मिला। मुझसे कहते थे कि जो लोप-अञ्जन मिल गया, तो तुम्हें अपने साथ घुमाने ले चला करेंगे।

मैं बोल उठा—तब तो हमारे बाबा काफी उदार थे और साथ ही साहसी भी बड़े थे।

दादी बोलीं—हाँ, यह बात तो है। जहाँ कहीं कोई नई चीज़ देख कर आते थे, तो उसका हाल मुझे अवश्य सुनाते थे; और इस तरह सुनाते थे कि फिर देखने की इच्छा न होती थी। पड़ोस के छोटे-छोटे लड़कों को घर में आने से कभी मना न करते थे, जब उनका कण्ठ फूटने लगता था, तब उनका आना बन्द किया जाता था।

सम्पादक जी, यह हमारे यहाँ की दशा थी। मेरे भी इसी तरह के संस्कार पड़े हुए थे, सो मैं भी पर्दे का बड़ा पक्षपाती रहा। यद्यपि इस पर्दे की बदौलत कई बार दुर्घटना होते बची। एक बार तो चालान ही कर दिया गया था। मैं

लल्ला की महतारी को उसके मायके से ला रहा था। एक स्टेशन पर गाड़ी बदली जाने वाली थी। मैं एक गाड़ी से उतर कर दूसरी गाड़ी की ओर चला। लल्ला की महतारी घूँघट के मारे मुझे देख न पाती थी, अतएव मैं पूरब की ओर चलता था तो वह पश्चिम की ओर भागती थी। मैं उसे इसके लिए डाँटता था। दो-चार पग चलने के पश्चात् प्रत्येक बार यही बात होती थी। अन्त में मैंने झल्ला कर कहा—देखो, जिस तरफ़ मैं चलूँ, उसी तरफ़ तुम भी सीधी तरह चली चलो, नहीं अच्छा न होगा। जिस स्थान पर मैंने यह बात कही, उसी स्थान पर एक पुलिसमैन खड़ा था। उसने मेरी बात सुन कर मेरी ओर घूर कर देखा और बोला—ठहरो जी, तुम कौन हो, यह औरत कौन है?

मैंने उत्तर दिया—मैं आदमी हूँ और यह मेरी स्त्री है।

पुलिसमैन बोला—तुम झूठ बोलते हो, यह तुम्हारी स्त्री नहीं है—तुम इसे भगा लाए हो।

मैंने क्रोध को दबा कर कहा—यह आपने कैसे जाना?

पुलिसमैन—यह तुम्हारे साथ जाना नहीं चाहती, सटकना चाहती है।

मैंने कहा—यह आपने एक ही कही।

पुलिसमैन—देखो, अभी मालूम हो जायगा। चलो इस तरफ़।

मैंने देखा कि यह बिना हवालात दिखाए मानेगा नहीं,

अतएव मैंने लल्ला की महतारी से कहा—तुम कह क्यों नहीं देतीं कि मैं इनकी स्त्री हूँ।

परन्तु लल्ला की महतारी लज्जा के मारे मौन रही। मैंने कहा—अच्छा यही कह दो कि मैं इनके लड़के की माँ हूँ या इनके ससुर की बेटी हूँ, कुछ तो कहो; नहीं हम-तुम दोनों बन्द किए जायँगे।

बड़ी कठिनता से पुलिसमैन के पूछने पर कि—"तुम इनकी स्त्री हो?" लल्ला की महतारी ने सिर हिला कर स्वीकार किया—तब कहीं प्राण बचे। उसी दिन से पर्दे से घृणा होने लगी।

सम्पादक जी, इस पर्दे की प्रथा का अन्त हो जाय तो बहुत ही अच्छा है! आजकल इसकी आवश्यकता नहीं। आजकल कहीं-कहीं तो ऐसा पर्दा होता है कि जिसे देख कर हँसी आती है। अपनों से पर्दा होता है, परायों से नहीं। जब कभी श्वसुर, जेठ या अन्य कोई रिश्तेदार आता है, तो स्त्रियाँ कोठरियों की शरण लेती हैं, परन्तु जब कोई बिसाती, चूड़ी वाला, बेल-फीते वाला इत्यादि द्वार पर आ गया तो फिर देखिए, वे ही स्त्रियाँ किस स्वतन्त्रता से चीज़ें ख़रीदती हैं। मेरे एक पड़ोसी की स्त्री रास्ते में इस प्रकार मुँह खोले आ रही थी मानों वह पर्दे को चुनौती दे रही थी; परन्तु मुझे जो देखा तो गठरी बन गई। मैंने कहा—ख़ब-

ख़ूब ! पापी केवल दुबे जी ही हैं, जो बुरी दृष्टि डालेंगे, अन्य सारा संसार पवित्र है। यह पर्दा भी अनोखा है।

सम्पादक जी, मैंने अपनी आँखों से देखा है, बड़े-बड़े घर की स्त्रियाँ, जो कदाचित् असूर्यम्पस्या समझी जाती हैं, मुसलमान-चूड़ी वालों से चूड़ियाँ पहनती हैं। चूड़ी वाला उनकी कोमल कलाई पकड़ कर चूड़ियाँ पहनाता है और इस कार्य में घण्टा-घण्टा भर लग जाता है। पता नहीं, उस समय उनका पर्दा कहाँ लोप हो जाता है। अपने तो मुख भी न देखने पाएँ और बाहर वाले कलाई पकड़ कर उनके मुँह बनाने और आह-ऊह करने का आनन्द लूटें। मारवाड़ी-जाति के पर्दे का तो चित्र ही आप 'चाँद' में प्रकाशित कर चुके हैं! मुँह तो इतना ढँका है कि केवल एक आँख जुगनू की तरह चमकती हुई दिखाई पड़ती है, परन्तु पेट पर्दे के बाहर निकला भागा जाता है। हाय रे पेट! यह चाहे जो कराए। आपने कभी मारवाड़ी-स्त्रियों को स्टेशन पर स्नान करते देखा है? गाड़ी आकर स्टेशन पर रुकी और मारवाड़िनें एक महीन धोती पहन कर प्लेटफ़ॉर्म पर बैठ गईं, ऊपर से पानी-पाँड़े ने दो-तीन डोल पानी डाल दिया। अब श्रीमती जी उठ कर जो खड़ी हुईं तो फिर क्या पूछना है, श्रीमती जी पर तो पानी के दो ही डोल पड़े, परन्तु लज्जाशील तथा समझदार दर्शकों पर श्रीमती जी का दिगम्बर स्वरूप देख कर सैकड़ों घड़े पानी पड़ जाता है।

यूरोपियन इस पर्दे को देख कर हँसते हैं। हमारे जैसे लोग अपने इस मूर्खतापूर्ण पर्दे पर लहू का घूँट पीकर रह जाते हैं। किससे कहें, और किस-किस के आगे रोवें? उनके पुरुष कैसे हैं, जिन गधों की समझ में इतनी बात नहीं आती कि यों तो इतना पर्दा कि कोई मुँह तक न देखने पाए और कहाँ यह कि सैकड़ों आदमी श्रीमती जी को नग्न देख रहे हैं। यद्यपि यूरोपियन स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, परन्तु फिर भी कोई यूरोपियन स्त्री इस प्रकार स्नान करना कभी स्वीकार न करेगी। ऐसा भी क्या नहाना कि पानी देखा और फाँद पड़ीं। यदि नहाना ही है तो ढङ्ग से नहाया जाय।

तीर्थ-स्थानों पर गङ्गा-यमुना के किनारे हम लोगों के पर्दे का जो दृश्य देखने को मिलता है, वह कितना वीभत्स होता है। उस समय यह पता लगता है कि हम लोगों में वास्तविक पर्दे का तो कहीं चिन्ह भी नहीं है—जो कुछ है वह ढोंग है, दिखावा है। यों जिस स्त्री का आप मुँह भी न देख सकें, उसे ही गङ्गा जी के तट पर जाकर पूर्णरूप से नङ्गी देख लीजिए। यह हमारे यहाँ का पर्दा है। यह बात नहीं कि वह वहाँ अपना पर्दा स्थिर ही न रख सकें—यदि वह चाहे तो ऐसा कर सकती हैं, परन्तु वह करें क्या, घर में पर्दे में रहते-रहते वह इतना ऊब जाती हैं कि गङ्गा-तट पर पहुँचते ही वह पर्दे को सर्वथा तिलाञ्जलि दे देती हैं। अति की प्रतिक्रिया भी अति ही में होती है!!

अधिकतर पर्दा अपने से होता है—परायों से नहीं। कहारों से, रसोइयों से तथा अन्य इसी श्रेणी के आदमियों से पर्दा नहीं होता। पर्दा होता है जेठ से, श्वसुर से, नाते-रिश्तेदार तथा इष्ट-मित्रों से। मेरे एक पड़ोसी के पिता अपनी पुत्र-वधू को उसके मायके से लाने गए। उनके पुत्र नौकरी-पेशा आदमी ठहरे, उन्हें छुट्टी नहीं मिली, इस कारण उन्होंने पिता को भेज दिया। अब सुनिए—लौटते हुए रास्ते-भर न श्वसुर जी बहू से बोले और न बहू श्वसुर जी से। बहू को प्यास लगी, पर कहे किससे? प्यासों मरती रही। श्वसुर जी रास्ते में किसी-किसी स्टेशन पर उतर कर जनाने डिब्बे में झाँक जाते थे। वह उसके कपड़े तथा आकार-प्रकार देख कर सन्तुष्ट हो जाते थे। यदि उसी ढङ्ग की कोई दूसरी स्त्री बिठा दी जाती तो श्वसुर जी उसी को अपनी पुत्र-वधू समझ कर सन्तोष कर लेते। अन्त में जब बहू प्यास के मारे व्याकुल हो उठी, तो उसने एक अन्य पञ्जाबी स्त्री से पानी माँग कर पिया। उसी स्त्री ने श्वसुर जी को सैकड़ों सुनाईं—वाह! अच्छे मरद साथ हैं, आके झाँक तो जाते हैं, पर यह नहीं पूछते कि कुछ चीज़ तो नहीं चाहिए। झाँकते क्या हो—भाग नहीं गई, बैठी है। दो घण्टे से प्यासों मर रही है, पानी तक को न पूछा।

बुड्ढ़ झल्ला कर बोले—तुम क्या जानो हमारा-इनका क्या रिश्ता है?

स्त्री बोली—यह तो देख ही रही हूँ—तुमने इसका बाप मारा होगा या इसने तुम्हारा! तभी तो बात करने तक की क़सम खाई है।

श्वसुर जी ने मुस्करा कर कहा—नहीं, यह बात नहीं, यह हमारी पतोहू हैं! यह हमसे और हम इनसे कैसे बात करें। यह प्यासों मरीं तो क्या—हम भी तो भूखों मर गए। खाना तो सब इनके पास बँधा है!!

चलिए छुट्टी हुई। पुत्र-वधू प्यासों मरी, और श्वसुर जी भूखों—न उसने पानी माँगा, न उन्होंने खाना! दूसरी स्त्री से कैसे पटर-पटर बातें कर रहे हैं। ख़ूब बोलते हो गङ्गा-राम! पर बहू के सामने क्यों घिग्घी बँध जाती है? यह हम लोगों के पर्दे की दुर्दशा है!

कुछ लोग जब ताँगे पर चलेंगे तो पर्दा बाँध कर। दिखाने के लिए ज़रा-सा पर्दा बाँध लिया और आप भी उसी पर्दे के भीतर स्त्री के पास बैठ गए। जब ताँगा तेज़ी से चला तो पर्दा हवा से फूल कर गुब्बारे की तरह ऊपर उठ गया—बस फिर क्या है, राधा-कृष्ण की जोड़ी बैठी देख लीजिए! ऐसे पर्दे पर लानत है। इससे तो वह पर्दा न बाँध कर वैसे ही बैठ जाया करें तो अच्छे रहें। अधिक से अधिक इतना करें कि स्त्री का मुख पूर्णरूप से खुला न रहने दें।

कुछ लोग अपनी स्त्रियों को पर्दे में इसलिए रखते हैं कि उनकी स्त्रियाँ इस योग्य ही नहीं होतीं कि किसी

को अपना मुँह दिखा सकें। इसका प्रमाण मुझे एक बार रेल में मिला। एक जेण्टिलमैन महाशय इण्टर-क्लास में बैठे थे। वह यथेष्ट गोरे-चिट्टे थे और बातचीत से पढ़े-लिखे भी अच्छे मालूम होते थे। उन्होंने अपनी पत्नी को इस प्रकार पर्दे में बिठा रक्खा था कि कदाचित् उसे हवा भी न लगती होगी। मैंने मन में सोचा—बाबू साहब हैं तो अप-टू-डेट, पर पर्दे के इतने पक्षपाती क्यों हैं? थोड़ी देर में इसका रहस्य खुल गया। एक स्टेशन पर बाबू साहब गाड़ी से नीचे उतर कर टहलने लगे। उनकी पत्नी ने इतना अवकाश जो पाया तो दूसरी ओर खिड़की से एक क्षण के लिए झाँका। मैंने उनकी झलक देख ली। वह बिलकुल उलटा तवा थीं और उस पर तुर्रा यह कि मुँह पर चेचक के दाग़! मैंने सोचा—ठीक है, ऐसी दशा में यदि बाबू साहब इतना पर्दा करते हैं तो बेजा नहीं है। वे क्षमा के योग्य हैं।

जहाँ तक मैंने विचार किया है, पर्दे से हानियाँ अधिक हैं, लाभ कुछ भी नहीं—यदि है भी तो वह नहीं के बराबर ही समझना चाहिए। पर्दे वाली असंख्य स्त्रियाँ ऐसी पड़ी हैं कि घर के बाहर निकलने पर उनके लिए अपना मुहल्ला और लन्दन बराबर है। यदि वह अपने मुहल्ले के ही किसी दूसरे भाग में छोड़ दी जायँ तो लौट कर घर नहीं जा सकतीं। ऐसी स्त्रियाँ परदेश तथा

यात्रा में भार-स्वरूप हो जाती हैं। जब तक उन्हें पशु की तरह न हाँका जाय तब तक वह आगे पैर ही नहीं उठातीं। ऐसी ही स्त्रियाँ अधिकतर गुण्डों द्वारा भगाई जाती हैं। पर्दे में रहने के कारण न उन्हें नगर का ज्ञान, न रास्ते का ज्ञान। जब तक अपनों के साथ रहीं, उनके पीछे-पीछे चलती रहीं और यदि घटनावश किसी कारण से उनसे अलग हो गईं तो जिसने हाथ पकड़ लिया, उसी के साथ हो लीं। आखिर करें क्या? वह स्वयम् कहीं जा नहीं सकतीं; पता तक तो पूछ नहीं सकतीं, पति तथा श्वसुर का नाम अपने मुखारविन्द से उच्चारण नहीं कर सकतीं; रास्ता मालूम नहीं—घर का पता लगे तो कैसे?

सम्पादक जी, कहाँ तक कहूँ? इस पर्दे के कारण ही हमारी स्त्रियों का जीवन नष्ट हो गया—वे मनुष्य नहीं रहीं, खिलौना हो गईं। मेरा तो यह अनुभव है कि पर्दा महा बुरा और पर्दे का ढोंग उससे लाख गुना अधिक बुरा। एक मित्र से उस दिन इसी पर्दे पर वाद-विवाद हो रहा था। पर्दे के विरुद्ध उनका सबसे बड़ा तर्क यह था कि—हमारी स्त्रियों पर पुरुषों की कुदृष्टि पड़ेगी!

मैंने उन्हें उत्तर दिया—कुदृष्टि पड़ेगी तो क्या होगा? घिस जायँगी या घुल जायँगी? यूरोपियन, पार्सी, ईसाई, महाराष्ट्र, गुजराती तथा पञ्जाबी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, उन पर भी तो लोग कुदृष्टि डालते ही होंगे। तो इससे क्या

होता है? हमने तो आज तक नहीं सुना कि कोई स्त्री कुदृष्टि पड़ने के कारण घिस गई हो। हमने तो जहाँ तक देखा है, यही देखा है कि जो स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, उनसे कोई आँख भी नहीं मिला सकता—किसी का साहस ही नहीं पड़ता। हाँ, पर्दे में चलने वाली स्त्रियों को बहुधा छेड़ते देखा गया है। पर्दे वालियों को देख कर गुण्डे खाँसते हैं, खखारते हैं, आवाजें कसते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि पर्दे वालियो के सम्बन्ध मे बदमाश जानते हैं कि यह चूँ तक नहीं कर सकनी। जो कहना हो, निर्भय होकर कहो। जो स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती, उनसे उन्हें भय रहता है कि ऐसा न हो यह कुछ कह बैठें, तो अन्य लोग चटनी बना दें। ऊँची जाति तथा सम्पन्न स्त्रियों की तो बात ही क्या, नीची जाति की ग़रीब स्त्रियाँ तक स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण किया करती हैं और कोई उनसे नहीं बोलता—यद्यपि उनमें तरुणी भी होती हैं और सुन्दरी भी। आदमी ताक-झाँक उसी वस्तु के लिए करता है, जो देखने को नहीं मिलती? जो वस्तु प्रत्येक समय सामने है, उसके लिए ताक-झाँक कौन करे? उससे तो मनुष्य की दर्शन-पिपासा सदैव के लिए जाती रहती है। हम लोगों में पुरुषों का स्वभाव भी इसी पर्दे के कारण बिगड़ा है। अच्छी वस्तु को देखने की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अतएव जब अच्छी वस्तु पर्दे के अन्दर रक्खी

जायगी, तो वे लोग, जो अपनी इच्छा को अपने वश में नहीं रख सकते, उसके लिए ताका-झाँकी अवश्य करेंगे। कहिए, स्वभाव बिगड़ा कि नहीं ? एक अच्छा खासा भलामानस इस पर्दे के कारण चोर की तरह आचरण करने लगा।

मेरा यह उत्तर सुन कर वह महाशय निरुत्तर होकर चुप हो गए।

यह हम लोगों की दशा है। एक बात कहने के लिए ले ली, उसी को पकड़े बैठे हैं। यह विचार नहीं करते कि उसमें कुछ सार है भी या नहीं ?

सम्पादक जी, इस पर्दे के विरुद्ध जितना आन्दोलन हो, अच्छा है। जिस दिन यह पर्दा उठ जायगा, वह दिन भारत की स्त्रियों के लिए अत्यन्त कल्याणकारी होगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

कई दिन हुए, मेरे पास एक लेखक महोदय आए और बोले—मैंने एक मौलिक ग्रन्थ लिखा है, उसे आप कृपा करके देख लीजिए।

मैंने पूछा—ग्रन्थ किस विषय पर है ?

लेखक—विषय ! विषय की बात न पूछिए, दुनिया भर में जितने विषय हैं, उन सबका समावेश उस ग्रन्थ में कर दिया गया है।

मैं कुछ घबरा कर बोला—ओफ ओह ! तब तो आपने ग्रन्थ क्या, पूरा विश्व-कोष लिखा है।

लेखक—विश्व-कोष न होते हुए भी वह विश्व-कोष है।

मैं—ओहो, तब तो उसमें यह ख़ास सिफत है।

लेखक—आप एक ही सिफत सुन कर घबरा गए, उसमे ऐसी न जाने कितनी सिफ़तें हैं।

मैं—क्यों साहब, उसमें काव्य है ?

लेखक—एक काव्य क्या, अनेकों काव्य हैं।

मैं—उपन्यास और गल्प भी हैं ?

लेखक—एक नहीं, पचासो।

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—इतिहास भी है?

लेखक—एक नहीं, बीसियों।

मैं—तब तो ग्रन्थ क्या, ग्रन्थों का लकड़दादा समझना चाहिए।

लेखक—इससे भी बढ़ कर समझिए।

मैं—कुछ विज्ञान की चर्चा भी की गई है?

लेखक—चर्चा! चर्चा नहीं, उसमें विज्ञान की पूरी पुस्तकें मौजूद हैं।

मैंने सोचा—ओफ! तब तो यह लेखक नोबल-प्राइज तथा मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक और भविष्य में उत्पन्न होने-वाले अन्य सब पारितोषिक ले लेगा। इसका मस्तिष्क है या भानमती का पिटारा। मैंने पुनः डरते-डरते पूछा—क्यों महोदय, उसमें और सब कुछ होगा; परन्तु एक बात की कसर रह ही गई होगी, मैं दावे से कहता हूँ कि उस विषय पर आपने एक अक्षर भी न लिखा होगा।

लेखक—वह कौन सा विषय है, जरा नाम लीजिए!

मैंने देवी-देवता मना कर, जिसमें मेरा दावा झूठ न निकले, कहा—भूगोल।

लेखक महोदय मुस्करा कर बोले—बस, इसी पर आपको इतना घमण्ड था, अजी जनाब! एक भूगोल क्या, समस्त भूगोल है।

यह सुन कर मेरा मस्तिष्क चक्कर खाने लगा, जल्दी से

घर के भीतर घुस गया। वहाँ जाकर एक गिलास ठण्ढा पानी पिया, मुँह पर दो-चार छींटे मारे। जब चित्त ज़रा सावधान हुआ तब मैं फिर उनके पास पहुँचा।

मैंने कहा—सुनिए महोदय, अब मैं आपसे कुछ न पूछूँगा।

लेखक—नहीं, अभी जो बात रह गई हो, वह पूछ डालिए।

मैं—पूछ तो लूँ; परन्तु यदि वह भी आपके ग्रन्थ में निकल आई तो मुझे ग़श आ जायगा; इसलिए पहले किसी डॉक्टर को बुला कर बिठा लूँ तब पूछूँ।

लेखक महोदय हँस कर बोले—आप तो मज़ाक़ करते हैं।

मैं—मज़ाक़! अजी जनाब, मज़ाक़ मे कोई बेहोश तो हो नहीं जाता!

लेखक—अजी बस रहने भी दीजिए। ख़ैर, आप पूछिए।

मैं—पूछता हूँ, ज़रा हृदय को पकड़ लूँ, कलेजा थाम लूँ। हाँ, आप एक बात का ध्यान रखिएगा, मैं बेहोश होने लगूँ तो ज़रा सँभाल लीजिएगा, खोपड़ी पर बर्फ़ रख दीजिएगा—बर्फ़ यहीं मेरे मकान की बग़ल में मिलती है।

लेखक—अजी आप भी क्या बातें करते है, पूछिए।

मैं—भला इसमें 'दर्शन' भी है? ज़रा ठहरना, अभी उत्तर न देना।

यह कह कर मैंने दीवार पकड़ ली और तब कहा—हाँ बताइए !

लेखक मुझे पकड़ कर बोला—हाँ, दर्शन भी है ! एक नहीं अनेक।

मैं सचमुच ही गिरने लगा, यदि लेखक मुझे सँभाल न लेता तो मैं निश्चय ही धराशायी हो जाता। उसने पङ्खा लेकर हवा करना आरम्भ किया। दस मिनिट पश्चात् मुझे होश आया, होश आते ही मैंने कहा—बस, अब आप तशरीफ़ ले जाइए, मैं अब आपसे कुछ नहीं पूछना चाहता।

वह बोले—नहीं, कुछ कसर हो तो पूछ लीजिए।

मैं—भई पूछ तो लूँ; पर भय मालूम होता है, यदि वह विषय भी तुम्हारी पुस्तक × × ×।

लेखक बात काट कर बोला—पुस्तक नहीं, ग्रन्थ कहिए। जिसमें इतने विषय हों वह पुस्तक ही रहेगी ?

मैं—हाँ-हाँ, क्षमा कीजिए, भूल गया था—ग्रन्थ, ग्रन्थ बल्कि ग्रन्थ के बाप का बाबा महाग्रन्थ। हाँ, तो उस महाग्रन्थ में यदि वह विषय भी निकल आया तो मेरे प्राणान्त हो जायँगे। इसलिए अब न पूछूँगा, मेरे प्राण फ़ालतू नहीं हैं।

लेखक—नहीं-नहीं, आपके प्राण नहीं निकलने पाएँगे, इसका जिम्मा मैं लेता हूँ। अगर प्राण निकल जायँ तो जो चाहे सो दण्ड दीजिएगा।

मैंने कहा—अच्छी बात है, यदि मेरे प्राण निकल गए

तो मैं आपके साथ बुरी तरह पेश आऊँगा। समस्त पत्रों में लेख लिख कर आपकी बदनामी कर दूँगा; मगर ठहरिए तो, वाह आपने मुझे अच्छा उल्लू बनाया। जब प्राण निकल जायँगे तो मैं मर जाऊँगा और इसके यह अर्थ हुए कि फिर तो मैं आपका कुछ भी बना-बिगाड़ न सकूँगा। ओफ़ ओह! भले को मैं समझ गया, अन्यथा आपने तो बेवक़ूफ़ बना कर आज मार ही डाला था। ले अब ठण्ढे-ठण्ढे यहाँ से चले तो जाइए।

लेखक—आप तो खफा होते हैं।

मैं—खफा होने की बातें ही आप कर रहे हैं, मुझे आप कोई साहित्य-विद्रोही आदमी मालूम पड़ते हैं। इसी बहाने से प्राण लेने आ गए। ग्रन्थ क्या बना लाए, पूरा बम बना लाए।

लेखक घबरा कर बोला—अरे दुबे जी, ऐसा भयानक दोषारोपण न कीजिए। अगर आप मुझे अपना शत्रु समझते हैं तो लीजिए मैं जाता हूँ।

यह कह कर वह चल दिया। मैंने उसे जाते देख पुनः बुलाया।

मैंने कहा—अच्छा भाई लौट आओ, क्या करूँ, बिना पूछे भी तो जी नहीं मानता। अच्छा खैर, अब मैंने अपना कलेजा पत्थर का बना लिया है, क्योंकि मैं आपका तात्पर्य समझ गया। परन्तु यह याद रखिए, आप अपना अभीष्ट

प्राप्त न कर सकेंगे। अच्छा बताइए, आपकी पुस्तक—अरे तोबा, महाग्रन्थ में ज्योतिष विषय है कि नहीं? जल्दी बताइए और इस तरह कहिए कि मुझे सुनाई न पड़े। जरा ठहरना, अभी मत कहना।

यह कह कर मैं घर के भीतर से एक टूटा कनस्तर उठा लाया और उसे पङ्खे की डण्डी से पीटता हुआ बोला—अब कहिए।

यद्यपि मैं इस ज़ोर से कनस्तर बजा रहा था कि मुझे कुछ न सुनाई पड़े; परन्तु उन्होंने बड़े जोर से चिल्ला कर कहा—हाँ है और बहुत है—गणित, फलित दोनों।

सम्पादक जी इस बार न मेरा सिर चकराया और न ग़श आया। यह कनस्तर पीटते रहने का फल था। मैंने लेखक से कहा—अब मुझे प्रश्न करने की युक्ति मालूम हो गई। ले अब सावधान हो जाइए, मैं अब प्रश्नों का दरबा खोलता हूँ, सँभलिए, यदि मेरे पूछे विषय आपकी पुस्तिका—राम-राम, मन होता है जीभ काट डालूँ—आपके ग्रन्थराज मे न निकले तो आपको कालेपानी भिजवा दूँगा।

लेखक ने कहा—पूछिए।

मैंने पूछा—आपके ग्रन्थराज में........ए........वह देखो—उसका भला सा नाम है, देखिए, उँह! पेट में है, मुँह में नहीं आता। ओफ़! हाँ-हाँ, आ रहा है! ऐं, फिर ग़ायब हो गया। अररर, अब तो कोई विषय रह ही नहीं

गया। लगभग सबको तो पूछ चुका। चलिए छुट्टी हुई, जब पूछने की तरकीब मालूम हुई, तब सब विषय ही समाप्त हो गए। अच्छा जाने दीजिए। वह ग्रन्थ आप साथ लाए हैं ?

यह कह कर मैंने बाहर की ओर झाँका, इस अभिप्राय से कि यदि ग्रन्थ लाए होंगे तो बाहर ठेले पर लदा खड़ा होगा; क्योंकि जिस ग्रन्थ में इतने विषय होंगे वह कोई मामूली ग्रन्थ तो होगा नहीं।

लेखक—यही तो तारीफ़ है कि इतने विषय होते हुए भी वह एक बहुत छोटा ग्रन्थ है।

मैंने चिल्ला कर कहा—हैं छोटा ग्रन्थ ?

लेखक—हाँ, और एक विषय पूछना आप भूल गए। वह मैं बतलाए देता हूँ, वह है कोष। कोष भी उसमें अनेक हैं।

मैं—हाँ, यही विषय तो मेरे पेट में था। इतना सोचा, पर दुष्ट मुँह में नहीं आया। अच्छा वह बावन-रूपी ग्रन्थ-राज दिखाइए !

उसने जेब से एक छोटी पुस्तक निकाल कर दिखाई। मैंने उसका मुख-पृष्ठ पढ़ा, उस पर लिखा था—'हिन्दी की उत्तमोत्तम पुस्तकों का सबसे बड़ा सूचीपत्र।' यह देखते ही मैं सचमुच ग़श खाकर गिर पड़ा। घण्टा भर बाद जब होश आया तो देखा कि लल्ला की महतारी की गोद में

सिर रक्खे पड़ा हूँ—लेखक दुष्ट का कहीं पता नहीं। जान पड़ता है कि वह किसी पुस्तक-प्रकाशक का एजेण्ट था। ख़ैर इस बार तो उल्लू बन गया, भविष्य में सतर्क रहूँगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

११

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

तीन-चार दिन हुए, मैं सन्ध्या-समय नियमानुसार वायु-सेवन के लिए निकला। थोड़ी ही दूर चला था कि देखा, वही हमारे वृद्ध पड़ोसी अपने पौत्र को, जिसकी अवस्था इस समय एक वर्ष के लगभग है, गोद में लिए रेंगते हुए चले जा रहे हैं। मैंने चाहा, कावा काट कर निकल जाऊँ; पर उन्होंने देख लिया। बोले—दुबे जी, क्या फूलबाग़ जा रहे हो ?

मैंने कहा—जी हाँ ! आप कहाँ चले ?

वह बोले—मैं तो यहीं ज़रा मस्जिद तक जा रहा हूँ।

मस्जिद का नाम सुन कर अपने राम के कान खड़े हुए। उनके साथ बातचीत करने की किञ्चित् मात्र इच्छा नहीं थी; पर मस्जिद का नाम सुन कर न रहा गया। मैं लपक कर उनके पास पहुँचा और बोला—यह मस्जिद कब से एटेण्ड करने लगे ? नमाज़ पढ़ना सीखने जाते हो क्या ?

वृद्ध महाशय बोले—अजी राम-राम ! आप भी क्या बातें करते हैं—मैं और नमाज़ ?

इतना कह कर वह हँसे। मैंने कहा—तब फिर मस्जिद में जाने की क्या आवश्यकता पड़ी? क्या वहाँ रेवड़ियाँ बँट रही हैं?

वृद्ध—फिर वही उलटी बात कही। अरे भाई, बँटती भी हो तो मुझे उनसे क्या मतलब—मेरे वह किस काम की?

मैं—तो फिर क्या क़ुरान शरीफ पढ़ते हो?

वृद्ध—अरे भाई, यह सब कुछ नहीं—मैं केवल इस बच्चे पर फूँक डलाने जा रहा हूँ।

मैं—फूँक डलाने! इसका क्या मतलब?

वृद्ध—इस बच्चे का जी कई दिन से खराब है, कुछ सुस्त रहता है, खाता-पीता नहीं, रोया करता है, इसलिए फूँक डलाने के लिए जा रहा हूँ!

मैं समझा फूँक कोई औषधि होगी। मैंने पूछा—क्यों साहब, यह फूँक कौन दवा है और किस मस्जिद में मिलती है?

वह बोले—दुबे जी, तुम भी निरे बछिया के ताऊ रहे। इतने बड़े हुए और यही नहीं जानते कि फूँक किसे कहते हैं?

मैं—मैं कोई डॉक्टर-हकीम तो हूँ नहीं, जो सब दवाओं के नाम रटे बैठा हूँ।

यह सुन कर वृद्ध महाशय बहुत हँसे। हँस चुकने के पश्चात् बोले—फूँक कोई दवा नहीं है दुबे जी, वह केवल मुँह की साँस है।

मैं—अच्छा! उससे क्या होता है?

वृद्ध—बात यह कि बच्चों पर बहुधा फेर हो जाया करता है, ऐसी दशा में मस्जिद में ले जाने से वहाँ का पेशइमाम कुछ पढ़ कर फूँक देता है—बस, फेर का प्रभाव जाता रहता है।

मैंने कहा—अच्छा! यह उलट-फेर है? मैं अब समझा।

वृद्ध—आप बहुत देर में समझते हैं।

मैं—जी हाँ, ज़रा बुद्धि मोटी है न! परन्तु आप इस फेर के फेर में कब से पड़े?

वृद्ध—कब से पड़े का क्या अर्थ? मैं तो सदैव से इस बात पर विश्वास रखता हूँ।

मैं—क्या विश्वास रखते हैं?

वृद्ध—कि फूँक से फेर का प्रभाव जाता रहता है।

मैं—हूँ! और क्यों जनाब, यह फेर क्या बला है?

वृद्ध—फेर वास्तव में बला ही है—बच्चों पर भूत-प्रेत आदि की छाया पड़ जाती है, उससे बच्चे बीमार पड़ जाते हैं।

मै—तो ऐसी दशा में आप चिकित्सा तो करते न होंगे?

वृद्ध—यह चिकित्सा नहीं तो क्या है?

मैं—मेरा तात्पर्य डॉक्टर-वैद्य की चिकित्सा से है।

वृद्ध—डॉक्टर-वैद्य इस दशा में कुछ नहीं कर सकते।

मैं—जो कुछ कर सकती है, फूँक ही कर सकती है?

वृद्ध—जीहाँ !

मैं—तब तो मुझे विश्वास हो गया कि वास्तव ही फेर है।

वृद्ध—देखा, आखिर मानना पड़ा न ?

मैं—मानूँगा क्यों नहीं ? जब आप साक्षात् प्रेत-रूप लड़के को गोद में लिए चले जा रहे हैं, तब तो मानना ही पड़ेगा।

यह सुनते ही वृद्ध महाशय घबरा कर बोले—मैं प्रेत-रूप कैसा ?

मैं—इस बच्चे के लिए सबसे बड़े प्रेत आप ही हैं, जो दवा न करा कर मस्जिद में दौड़े चले जा रहे हैं।

वृद्ध—यह आप बक क्या रहे हैं ?

मैं—मैं यह कह रहा हूँ कि जब तक इस पर आपका फेर रहेगा या यह आपके फेर में रहेगा, तब तक इस बेचारे की यही दशा रहेगी। बात साधारण है, केवल समझ का फेर है।

वृद्ध—आप बौड़मपने की बातें करते हैं।

मैं—यह भी समझ का फेर है। भला यह तो बताइए, आपने इसे किसी डॉक्टर-वैद्य को दिखलाया ?

वृद्ध—यह तो मैं कह चुका कि इसमें डॉक्टर-वैद्य कुछ नहीं कर सकते।

मैं—यह आपने बिना उन्हें दिखलाए ही समझ लिया ?

वृद्ध—क्यों ? समझ क्यों न लेता ? यह बाल मैंने धूप में सफेद नहीं किए हैं—संसार देखा है !

मैं—अच्छा, अब सच-सच कहिएगा—धर्म से ईश्वर को, या मस्जिद की रू से अल्लाह-ताला को हाज़िर-नाज़िर समझ कर—बौड़म आप हैं या मैं ?

वृद्ध—क्यों, मैं बौड़म क्यों ?

मैं—लड़का बीमार होता है, अर्थात् सुस्त रहता है, कुछ खाता-पीता नहीं, रोता रहता है, कहिए हाँ !

वृद्ध—अच्छा, आगे !

मैं—आप बिना किसी डॉक्टर-वैद्य को दिखाए ही यह समझ लेते हैं कि इस पर फेर हो गया है। कहिए हाँ !

वृद्ध—हाँ-हाँ, फिर ?

मैं—फिर क्या ? इस हिसाब से आप पक्के बौड़म हैं, कहिए हाँ !

वृद्ध—नहीं-नहीं, हज़ार बेर नहीं। आपने मुझे कोई लौंडा समझ रक्खा है, ज़बरदस्ती 'हाँ' कहलवाते चले जाते हैं ? वाह ! अच्छे रहे !

मैं—अच्छा, ज़बरदस्ती न कहिए, अपनी ख़ुशी से कहिए—किसी तरह कहिए तो !

वृद्ध—क्यों कहूँ ?

मैं—अच्छा जाने दीजिए, मत कहिए, । पर बात ठीक है, इतना तो आपको मानना ही पड़ेगा।

वृद्ध—कदापि ठीक नहीं है। आप अभी कल के लड़के

हैं, इन बातों को क्या जानें ? अच्छा यह बताइए, आप भूत-प्रेतों के अस्तित्व को मानते हैं या नहीं ?

मैं—मानता हूँ, नहीं भी मानता।

वृद्ध—यह क्या बात रही ? एक बात कहिए !

मैं—अच्छा मानता हूँ।

वृद्ध—जब भूत-प्रेतों को मानते हैं, तब यह भी मानना पड़ेगा कि उनका फेर भी होता है, अर्थात् वह पीड़ा भी देते हैं।

मैं—अच्छा मान लिया।

वृद्ध—भूत-प्रेतों की पीड़ा औषधि से नहीं जा सकती।

मैं—हाँ, यह भी मानना ही पड़ेगा।

वृद्ध—तब ऐसी दशा में फूँक डलवाने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ?

मैं—इसे मैं नहीं मानता। प्रथम तो यह बात है कि विना बच्चे की डॉक्टरी परीक्षा कराए आप यह कैसे मान बैठे कि भूत-प्रेतो का फेर है ? बौड़मपन-नम्बर वन। दूसरी बात यह है कि यदि भूत-प्रेत का फेर है, तो वह केवल फूँक डलवाने से और वह भी मस्जिद के पेशइमाम की फूँक डलवाने से दूर होगा—बौड़मपन-नम्बर टू।

वृद्ध—मैं वुड्ढा होगया, मेरा भी कुछ अनुभव है; इसलिए जो कुछ मैं कहता हूँ, वह ठीक मानिए।

मैं—यह बौड़मपन-नम्बर थ्री है। आगे चलिए !

वृद्ध महाशय आग होकर बोले—आगे क्या आपका सिर चलूँ! आप वाही-तबाही बकते हैं, सीधी तरह बात कीजिए।

मैं—अच्छी बात है; बिलकुल सीधी तरह लीजिए। मैंने यह मान लिया कि भूत-प्रेत का फेर है; परन्तु आपने जो ये तैंतीस करोड़ देवता पाल रक्खे हैं, इनमें से क्या कोई भकुवा भूत-प्रेत का फेर नहीं हटा सकता?

वृद्ध—मैंने क्यों पाल रक्खे हैं?

मैं—सनातन-धर्म ने पाल रक्खे हैं और आप सनातन-धर्मी हैं कि नहीं?

वृद्ध—हूँ क्यों नहीं?

मैं—तब फिर कैसे नहीं पाल रक्खे हैं?

वृद्ध—हमारे देवता भी कुछ गड़बड़ थोड़े हैं—एक हनुमान जी ही ऐसे हैं कि उनके नाम से भूत-प्रेत भागते हैं।

मैं—अब कहिए—यह बौड़मपन-नम्बर फोर हुआ या नहीं?

वृद्ध—फिर वही बात?

मैं—अच्छा क्षमा कीजिए, भूल होगई।

वृद्ध—बात यह है कि इसमे ज़रा सरलता पड़ती है। अपने आनन्द से मस्जिद में चले गए और फूँक डलवा लाए।

मैं—और हनुमान जी की तलाश मे स्वर्गलोक की

यात्रा करनी पड़ती है, क्यों न ? सरलता तो मुसलमान हो-जाने में बहुत है, वहाँ सिवाय अल्लाह-मियाँ के और कोई नहीं है; फिर आप मुसलमान क्यों नहीं हो जाते ?

वृद्ध—अरे भाई, यह काम वही कर सकता है, जिसे हनुमान-चालीसा का इष्ट हो—या गायत्री का इष्ट हो, या तान्त्रिक हो।

मैं—जी हाँ, और हिन्दू-धर्म अर्थात् सनातन-धर्म में यह तीनों चिराग़ लेकर ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते—क्यों न ?

वृद्ध—मिलते हैं; पर बड़ी कठिनता से !

मैं—और मुसलमानों में प्रत्येक व्यक्ति वली-अल्लाह है ?

वृद्ध—वली-अल्लाह न भी हो, परन्तु वह नमाज़ पढ़ने के पश्चात् जो फूँक डालते हैं, उससे लाभ होता है।

मैं—इसी प्रकार आप हनुमान-चालीसा या गायत्री का पाठ करके फूँक डाल सकते हैं। इस प्रकार जो आप थोड़ी सी बात के लिए बच्चे के मुँह पर थुकवाते हैं, इससे क्या आपके धर्म का अपमान नहीं होता ?

वृद्ध—थुकवाना ! थुकवाना कैसा ? फूँक डलवाता हूँ या थुकवाता हूँ ?

मैं—मैं तो उसे थुकवाना ही समझता हूँ।

वृद्ध—आप चाहे जो समझें, आपके समझने से होता क्या है ?

मैं—यह बड़े खेद की बात है कि एक ओर तो आप लकड़ियाँ तक धोकर चूल्हे में लगाते हैं, दूसरी ओर विधर्मियों से यह कृत्य करवाते हैं—राम-राम !

इस बेर वृद्ध महाशय कुछ नम्र होकर बोले—क्या करें भाई, स्वार्थ सब कुछ कराता है।

मैं—प्रथम तो भूत-प्रेतों में इतना अन्ध-विश्वास होना ही महा लज्जा की बात है। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि ऐसा होना सम्भव है, तो उसके लिए हमारे हिन्दुओं में क्या ऐसे लोग नहीं हैं, जो झाड़-फूँक कर दिया करें ?

वृद्ध—हिन्दुओं में हों भी तो मिलते कहाँ हैं ?

मैं—यदि खोज की जाय तो अवश्य मिलेंगे।

वृद्ध—जी हाँ, घड़ी में घर जले ढाई घड़ी की भद्रा। यहाँ तो प्राणों की पड़ी है, खोज कौन करे ?

मैं—अच्छी बात है, न खोज कीजिए, आपही ऐसे लोगों के कारण हिन्दू-धर्म की यह दुर्दशा है ?

इन्हीं बातों में मस्जिद निकट आ गई। मैंने कहा—जाइए, मस्जिद आ गई।

वृद्ध महाशय बोले—भाई, तुमने ऐसी बातें कीं कि अब वहाँ जाने को जी नहीं चाहता।

मैं—ख़ैर, ग़नीमत है; आपको कुछ लज्जा तो आई। इस फेर में मत पड़िए—किसी डॉक्टर को दिखलाइए। यदि

डॉक्टर-वैद्यों से काम न हो, तब फेर के फेर में पड़िएगा। उस समय किसी हिन्दू-तान्त्रिक को दिखाइएगा। मस्जिदों में फूक डलवाने से अपना और अपने धर्म का अपमान होता है—यह याद रखिए। इन बातों से मुसलमान अपने जी में हँसते हैं कि हिन्दू भी पूरे काठ के उल्लू हैं, हम लोगों के झाँसे में आ जाते हैं।

वृद्ध—अच्छी बात है, मैं इस समय डॉक्टर ही के पास जाता हूँ।

यह कह कर वह दूसरी ओर चले गए। मैं फूलबाग़ की ओर चला। उस समय मेरे मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि आखिर हिन्दुओं का इतना पतन क्यों है कि कोई मस्जिद में फूँक डलवाने जाता है, कोई क़ब्र पर चादर चढ़ाता है, कोई मदार बाबा का झण्डा उठाता है। इस पर मैंने बड़ी देर तक विचार किया। अन्त में यही परिणाम निकला कि हम हिन्दुओं का कोई एक निश्चित धर्म नहीं रह गया। सब लोग अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलग बनाए हुए हैं। न धर्म एक, न उपासना एक, न उपासना के नियम और समय एक। कोई सवेरे शिव-मन्दिर में जाकर बमभोला कर आया, कोई दोपहर को विष्णु भगवान् के दर्शन कर आया, कोई शाम को देवी जी के स्थान पर भगवती-फूलमती करता हुआ पहुँचा। हम लोगों में कोई भी देवालय ऐसा नहीं है, जहाँ एक समय में

हज़ार दो हज़ार मनुष्य प्रतिदिन इकट्ठा होते हों। यही कारण है कि हम लोगों में समुचित सङ्गठन नहीं। घर-घर ठाकुर जी विराजमान हैं। गली-गली मन्दिर बने हुए हैं, जिनमें अधिकांश ऐसे हैं कि उनमें चिराग़ तक नहीं जलता। बनाने वाले ने तो अपने वित्त के अनुसार एक मन्दिर बना कर खड़ा कर दिया, बस, वह तो मोक्ष के अथवा वैकुण्ठ के अधिकारी हो गए। उनके पश्चात् चाहे मन्दिर में गधे लोटें या कुत्ते। सम्पादक जी, मेरा बस चले तो मैं इन मन्दिरों का बनना एकदम बन्द कर दूँ। सच पूछिए, तो हिन्दू-धर्म में क्रान्ति की आवश्यकता है। ये जितने धर्म हैं, सबको मिटा कर या सबको मिला कर एक धर्म बना दिया जाय, तब यह धाँधली दूर हो सकती है। इस धाँधली के कारण यह दशा हो गई है कि लोगों का विश्वास ईश्वर पर से उठ गया है। यों कहने को कोई शैव है, कोई वैष्णव और कोई जैन; परन्तु इनमें अधिकांश ऐसे हैं, जो न शिव की ईश्वरता पर विश्वास करते हैं, न विष्णु की। यही कारण है कि कहीं उन्हें पीर जी घसीटते हैं, कहीं सैयद बाबा और कहीं मदार बाबा। कितने आश्चर्य की बात है कि तंतीस करोड़ देवताओं से भी इनका काम नहीं चलता। इन हिन्दुओं का वश चले तो यह एक नया धर्म और ईश्वर नित्य बनाया करें। और जहाँ तक इनकी चलती है, बनाते हैं। एक शिवलिङ्ग स्थापित कर दिया। किसी ने पूछा—"यह कौन हैं?"

उत्तर मिला—"यह खेरेश्वर हैं।" एक चबूतरे पर दस-पाँच पत्थर धर दिए। किसी ने पूछा—"यह क्या?" जवाब दिया—"यह फूलमती देवी हैं।" क्या ठिकाना है! बुद्धि चक्कर खा जाती है। किसे-किसे मानें, किसे-किसे पूजें? और आनन्द यह है कि आज तक सोमेश्वर महादेव बड़े सच्चे थे, कल नागेश्वर पैदा हो गए तो सोमेश्वर को पेन्शन दे दी गई! परसों दूधेश्वर तवल्लुद हुए तो नागेश्वर पचपन साला में आ गए। इसी के मारे हिन्दुओं की मिट्टी पलीद है। मेरी समझ में तो जङ्गली जातियों का धार्मिक विश्वास भी हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास से कहीं अच्छा है। कम से कम वह एक परिमित संख्या तो मानते हैं, और जिसे मानते हैं, सच्चे जी से मानते हैं। उनके यहाँ दो ही तीन देवता हैं; पर वे उनके ईश्वरत्व पर विश्वास करते हैं। यह नहीं कि आज फूलमती देवी पैदा हो गई तो दूधमती को कोई टके को नहीं पूछता। सम्पादक जी, मैंने देखा है कि लोग घर के महादेव को या ठाकुर जी को छोड़कर दो-दो कोस दौड़े चले जा रहे हैं। पूछा—"क्यों जी, इतनी दूर क्यों जा रहे हो?" उत्तर मिला—"वहाँ सिद्धेश्वर महादेव हैं, वह बड़े सच्चे हैं, तत्काल फल देते हैं।" लीजिए महादेव भी अनेक प्रकार के हो गए और उनमें भी सच्चे-झूठे विद्यमान हैं। उपास्य-देव की यह छीछालेदर किसी और धर्म में भी आपने देखी है? इन गधों को इतना ज्ञान

भी नहीं कि सच्चा-झूठा तो बनाने की शक्ति तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है, अन्यथा वह तो पत्थर है, उसमें क्या धरा है? जिसे सच्चे जी से मानो, जिस पर तुम्हारी अनन्य भक्ति तथा श्रद्धा हो वही तुम्हारे लिए सच्चा है। सो किसी भकुए में इतनी श्रद्धा-भक्ति तो है नहीं, जो अपने तपोबल से पत्थर में कुछ चमत्कार उत्पन्न कर सके! इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं कि कदाचित् अमुक ही हमें राजसिंहासन पर बिठा दे—हमारा घर सन्तान से भर दे, या पैक करके सीधा वैकुण्ठ-धाम स्टेशन भेज दे।

कहाँ तक कहूँ, इस हिन्दू-धर्म का उद्धार यदि ईश्वर चाहे, तभी हो सकता है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

१८

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

भला आप भी मुझे क्या समझते होंगे। इतना ही न कि एक साधारण साक्षर ब्राह्मण, जिसका नित्य-कर्म प्रातः काल लोटा उठा कर गङ्गा जी की तरफ़ सन्ध्या-आदि से निबटने के लिए यात्रा करना और उधर से मुँह में मोटी से मोटी दाँतुन की जुगाली करते हुए, धीरे-धीरे रास्ते में मिलने वाले इष्ट-मित्रों से खुपड़िहाव करते-करते घर की चौखट पर आ बैठना। यदि लल्ला की महतारी का मूड (Mood) नहीं-नहीं, असल में मूड़ अर्थात् मिज़ाज का पारा ठीक मिला, तो कुँए से डोल नहीं खींचना पड़ता है, वरना अपने ही हाथों मूँज की रस्सी में अपने बाबा का ख़रीदा हुआ भारी डोल फाँस देना ही पड़ता है। उस वक़्त एक ही डोल खींच लेने पर छुट्टी नहीं मिल जाती। लल्ला की महतारी फूटे डोल की खनखनाहट सुनते ही, घर भर के पानी के बर्तन आँगन में लाकर रख देती है। मेरे पिता जी के ज़माने में इस डोल में एक छेद हो गया था। वह आज तक बना हुआ है। मैंने उसे इस भय से नहीं सुधरवाया कि

उसकी प्राचीनता नष्ट हो जायगी। ऊपर आते-आते डोल में कोई डेढ़ लोटा पानी रह जाता है। इस प्रकार सम्पादक जी, आप समझ सकते हैं कि मेरा जीवन कितने ऊँचे आदर्शवाद पर चल रहा है। क़रीब पचास-साठ डोल खींचते-खींचते एक पहलवान को सी पूरी कसरत पड़ जाती है। यही तो कारण है कि जब कभी इधर-उधर से दङ्गे इत्यादि के समाचार आते हैं, तो मैं लल्ला की महतारी के सामने अपने बल-डण्डों को फुला कर थोड़ी देर के लिए साँस खींच कर बैठ जाता हूँ। और इस प्रकार उसे सन्तोष दिलाने की सिरतोड़ कोशिश करता हूँ कि मेरे घर पर गुण्डों का हमला असम्भव है। प्रातःकाल के इस देहाती व्यायाम के बाद स्नान करता हूँ, तत्पश्चात् पूजा पर बैठ जाता हूँ। ठीक भोजन-गृह के सामने मेरा पूजा-भवन है। आँखें बन्द किए हुए घण्टों भगवान् के ध्यान में मग्न रहता हूँ। जब देख लेता हूँ कि लल्ला की महतारी ने मेरे खाने लायक़ रोटियाँ सेंक-सेंक कर चूल्हे के इधर-उधर पटक-पटक कर रख ली हैं, तब झट मेरी समाधि टूट जाती है। लल्ला की उँगली पकड़ कर सीधे चौके की तरफ़ ऐसा लपकता हूँ— मानों भूखा भेड़िया शिकार पर टूटता हो। भोजन के पश्चात् तो अपने राम की वही दशा हो जाती है जो पारा पिए हुए चूहे की। कोई लाख कहे, मैं अपनी चारपाई से नहीं हिलता। उस समय तो 'ज़मीं जुम्बद न जुम्बद गुलमुहम्मद'

का पाठ पढ़ता हूँ। तीन बजे तक खर्राटे लेने के पश्चात् मेरी नींद उचटती है। ठीक साढ़े चार बजे विजया भवानी का नीलकण्ठी स्वरूप ग्रहण करके, फिर लोटा उठा कर बाग़-बग़ीचों की तरफ़ चला जाता हूँ, और इस प्रकार अनेक लोकों की सैर करता हुआ, रात्रि के दस बजे तक घर आता हूँ। मेरे नित्य-कर्म का प्रोग्राम यह है।

पिछले हफ्ते की बात है। मैं कहीं बाहर घूमने निकल गया था। लल्ला की महतारी बतलाती है कि एक घुड़सवार ने आकर मेरा नाम पुकार-पुकार कर सारे मुहल्ले में सनसनी फैला दी। लल्ला की महतारी की यह आदत बड़ी अच्छी है कि मेरे घर से निकलते ही वह दरवाज़े की कुण्डी चढ़ा कर छत पर जा बैठती है, और अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों से महिला-कान्फ़रेन्स जोड़ कर, मुहल्ले भर के लोगों के पुराने इतिहासों पर व्याख्यान आरम्भ कर देती है। ख़ैर, जब लल्ला की महतारी का ध्यान उचटा और सरकारी घुड़सवार का गला पुकारते-पुकारते दादुर-स्वर पर पहुँचा, तब लल्ला की महतारी ने छज्जे पर से बाहर झाँका। उसने देखा कि एक घुड़सवार बल्लम हाथ में लिए खड़ा है। यह देखते ही लल्ला की महतारी के होश उड़ गए। उसने यही समझा कि लल्ला के बाप की गिरफ़्तारी का वारण्ट है। बात यह है कि मुहल्ले में मैं ही एक पढ़ा-लिखा आदमी रह गया हूँ, शेष सब मर-गल गए। ख़ैर साहब, जब सवार

ने बहुत ऊधम मचाया तो मेरी तलाश में एक आदमा दौड़ाया गया। मैं उस समय विजया की गोद मे पड़ा हुआ सूरदास का एक पद गा रहा था। आदमी ने जाते ही कहा—दुबे जी, तुम्हें एक सिपाही बुला रहा है।

मैंने कहा—कैसा सिपाही? कहीं वह होली वाला सिपाही तो नहीं है! उस बार छोड़ दिया, अबकी मैं बचा की हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।

वह बोला—नहीं, वह नहीं है, यह तो घुड़सवार है, हाथ में बल्लम लिए हुए है।

'अररर—घुड़सवार और हाथ में बल्लम, मामला सङ्गीन है।' मैं चुपचाप भीतर ही भीतर थर-थर काँपता हुआ आया। घुड़सवार ने देखते ही एक लम्बा सलाम किया। उसके सलाम करने के ढङ्ग से मेरी जान में जान आई। मूँछों पर ताव देकर पूछा—कहो, कैसे दौड़े आए?

उसने उत्तर में केवल एक लम्बा लिफ़ाफा मेरे हाथ में दिया।

मैंने बड़ी लापरवाही से लिफ़ाफा फाड़ा—अन्दर की चिट्ठी भी फट गई। मगर मैं तो बड़ा ही होशियार आदमी हूँ—झट से लल्ला की महतारी से थोड़ा सा गरमागरम भात माँग लाया, उससे चिट्ठी को जोड़ा। लड़कपन में सीखी हुई कला काम दे गई। लड़कपन में मैं इसी प्रकार फटी हुई पतङ्गें जोड़ा करता था। ख़ैर साहब, चिट्ठी खोल कर पढ़ी।

चिट्ठी कलक्टर साहब की थी। उसमें उन्होंने लिखा था कि दुबे जी, आपकी चिट्ठियाँ हिन्दुस्तान भर में मशहूर हो रही हैं, इसलिए मैं आपसे मिलना चाहता हूँ।

मैंने सवार से कहा कि—अच्छा, कलक्टर साहब से कह दो कि हमारे वास्ते स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध कर दें, तो हम आ सकते हैं।

सवार बोला—स्पेशल ट्रेन? अजी दुबे जी गाड़ी-मोटर कहिए, स्पेशल ट्रेन की क्या ज़रूरत है? कलक्टर साहब का बङ्गला तो यहाँ से सिर्फ चार फ़र्लाङ्ग की दूरी पर है।

मैंने कहा—यह तो ठीक है, मगर मैं आज अपनी ससुराल जा रहा हूँ। स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध हो जायगा तो अपनी ससुराल होता हुआ आज के ठीक पन्द्रहवें दिन कलक्टर साहब के बँगले पर पहुँच जाऊँगा। सम्पादक जी, कहिए कैसी चाल खेली। कलक्टर साहब को तो मिलने की ग़रज़ है, जो मैं कहूँगा करेंगे। इसलिए क्यों न इस अवसर से लाभ उठाऊँ। स्पेशल ट्रेन मिलेगी। शान के साथ ससुराल जाऊँगा। वहाँ महीना-पन्द्रह दिन रह कर सीधा कलक्टर साहब के बँगले पर पहुँच जाऊँगा।

सवार बोला—तो आपको जो कुछ कहना है, वह लिख दीजिए।

मैंने कहा—इतने बड़े हाकिम, कलक्टर कहलाते हैं, यह

न हुआ कि जवाब लिखने के लिए एक बढ़िया फ़ाउण्टेन-पेन और दो-चार रीम काग़ज़ भिजवा देते।

ख़ैर जनाब, मैंने अपनी कोठरी में जाकर अपनी माँग लिख दी। सवार ने चलते समय कहा—'हुज़ूर, मेरा इनाम!' मैंने सोचा इसे इनाम देना ज़रूरी है, नहीं तो बद-नामी होगी। मैंने उसे उसी समय एक रुपया इनाम दे ही डाला। इतनी बड़ी रक़म पाकर उसने बहुत झुक कर सलाम किया। मैंने उससे कहा—सुनते हो भाई, जो स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध करा दिया तो एक अठन्नी और दूँगा।

सवार हँसता हुआ चला गया। हँसता न तो क्या रोता? एक रुपया जो इनाम मिला था!

अब देखिए कलक्टर साहब क्या जवाब देते हैं। जो कुछ तय होगा, अगली चिट्ठी में लिखूँगा।

भवदीय,
विजयानन्द (दुबे जी)

१३

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

मैं एक कार्यवश बाहर गया था। रेल में तीन-चार विद्यार्थी मिले। इनकी सूरत का क्या वर्णन करूँ, पौने पाँच फ़ीट से अधिक कोई ऊँचा न था। दुबले-पतले, छल्ला सी कमर, प्रत्येक पग पर पतङ्ग की तरह झप खाते थे। उनकी कमर देख कर उर्दू कविता में वर्णन की हुई कमर का स्मरण हो आया। सूट-बूट से पूर्णतया लैस, मुँह में सिगरेट दाबे तथा हाथ में एक-एक पतली छड़ी लिए—इतनी पतली कि किसी के शरीर पर मारने का ध्यान करते ही टूट जाय—गिटपिट करते हुए वे सब मेरे ही दर्जे में घुस आए। आते ही पहले उन्होंने एक बार दर्जे भर का सिंहावलोकन किया। उनकी दृष्टि में कितनी अहंमन्यता, कितना अहङ्कार था! अन्य जितने प्राणी बैठे हुए थे, वे उनकी दृष्टि में मूर्ख थे। नाक-भौं चढ़ाए हुए वे एक ओर बैठ गए और लगे बातचीत करने। अब जो बोलता है वह अङ्गरेज़ी में—हिन्दी-उर्दू का नाम नहीं! बातें वही कॉलेज, प्रोफ़ेसर, परीक्षा इत्यादि की थीं। सम्पादक जी, सच मानिएगा, दो

घण्टे तक वे उस दर्जे में बैठे रहे, परन्तु उनकी बातें समाप्त न हुई और किसी ने भूल से भी हिन्दी का एक शब्द अपने मुँह से नहीं निकाला। हिन्दुस्तानी थे, इसलिए यह सन्देह हो गया कि ये हिन्दी-उर्दू अवश्य जानते होंगे, अन्यथा उन्होंने तो यह बात प्रमाणित करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी कि वे अङ्गरेज़ी के अतिरिक्त न कुछ बोल सकते हैं और न समझ सकते हैं। बातें भी उनकी वैसी ही थी—अमुक प्रोफ़ेसर बिलकुल गधा है, प्रिन्सिपल साहब पूरे बछिया के ताऊ हैं, अमुक विद्यार्थी कुछ नहीं जानता, अमुक पुस्तक बिलकुल व्यर्थ है, इत्यादि। जिस ढङ्ग से वे बातें कर रहे थे, उससे प्रतीत होता था कि उनकी समझ में उस दर्जे मे कोई व्यक्ति अङ्गरेज़ी समझने की योग्यता नही रखता। इसका कारण यह था कि उस दर्जे में जितने आदमी थे, वे सब हिन्दुस्तानी वेश-भूषा के थे। अपने राम तो कभी कॉलर, नेकटाई, पेण्ट इत्यादि के पास भी नहीं फटकते। इसी कारण सम्भव है, उन्होंने सबको ठेठ हिन्दुस्तानी समझ लिया हो। अतएव वे अपनी प्राइवेट बातें भी कर रहे थे—ऐसी बातें, जो किसी अन्य मनुष्य के सम्मुख नहीं करनी चाहिएँ। जब उन्हें गिटपिट करते दो घण्टे से भी अधिक हो गया, तो मैंने पास बैठे हुए एक व्यक्ति से कहा—ये लोग हिन्दुस्तानी तो जान नहीं पड़ते।

मेरी यह बात उन्होंने सुन ली। मेरा अभिप्राय भी यहा

था। उनमें से एक बोला—क्यों जनाब, यह आपने किस प्रकार जाना ?

मैं बोला—किसी प्रकार जाना हो, पर आप यह बताइए कि बात ठीक है या नहीं ?

एक दूसरा व्यक्ति मुस्करा कर बोला—क्यों जनाब, आप किस ज़बान में बातचीत कर रहे थे ?

उनमें से एक बोला—अच्छा ! अब इस तरह बनाइएगा !

मैं बोल उठा—बनाने की बात नहीं, आप लोग ख़ूब बोलते हैं। हमें तो यह सन्देह होने लगा था कि आप लोग हिन्दी बोल ही नहीं सकते।

दूसरा विद्यार्थी बोला—वाह साहब, हिन्दी तो हम लोगों की मादरी ज़बान है। उसे न जानेंगे तो जानेंगे किसे ?

मैंने आश्चर्य का भाव दिखा कर कहा—आपकी मादरी ज़बान हिन्दी है तब तो कमाल है !

तीसरा—कमाल कैसा ?

मैं—हिन्दी मादरी ज़बान होते हुए भी आप दो घण्टे तक परस्पर अङ्गरेज़ी ही बोलते रहे, यह कमाल की बात नहीं तो और क्या है ? संसार में शायद ही कभी दो फ़्रान्सीसी साथ रह कर फ़्रान्सीसी न बोल कर अङ्गरेज़ी या जर्मन बोलते रहे हों। ऐसा अवसर कदाचित् ही कभी आया हो, जब दो जर्मन परस्पर दो घण्टे तक किसी विदेशी भाषा में वार्त्तालाप करते रहे हों।

तीसरा—क्यों, क्या अङ्गरेज़ी बोलना पाप है?

मैं—पाप! यह तो महापुण्य का कार्य है। इसमें पाप काहे का? पाप तो हिन्दी बोलना है!

एक अन्य सज्जन बोल उठे—बात यह है कि प्राइवेट बातें हो रही थीं, इसलिए ये लोग अङ्गरेज़ी में बातचीत करते रहे। हिन्दी बोलते तो हम लोग सब समझ न लेते।

यह सुन कर दर्जे के सब लोग हँस पड़े।

मैंने पूछा—क्यों महाशय, आप लोग किस क्लास में पढ़ते हैं?

उनमें से एक बोला—क्लास! हम लोग कॉलेज में पढ़ते हैं, क्लास स्कूलो में होते हैं। हम लोग थर्ड-इयर के स्टूडेण्ट हैं।

मैं—यह आपने अच्छा बता दिया। मुझे यह बात नहीं मालूम थी। आप लोगों की अङ्गरेज़ी सुन कर मैंने समझा था कि आप लोग किसी क्लास ही में पढ़ते होंगे।

एक बोला—आख़िर आपको अङ्गरेज़ी से इतनी नफ़रत क्यों है? आप जानते हैं कि आजकल सब ओर अङ्गरेज़ी ही की क़दर है।

मैंने कहा—मुझे अङ्गरेज़ी क्या, किसी भी विदेशी भाषा से नफ़रत नहीं है। इसके अतिरिक्त अङ्गरेज़ी तो राज-भाषा है।

दूसरा—अब आपने समझदारी की बात कही। अङ्गरेज़ी

राज-भाषा है, इसके अतिरिक्त अङ्गरेज़ी बड़ी 'रिच' भाषा है। उसमें जितने शब्द हैं उतने हिन्दी में हैं कहाँ?

मैं—हों भी कहाँ से? शब्द अपने आप तो उत्पन्न होते ही नहीं, न ईश्वर ही उनका कोष बना कर जिबरील फ़रिश्ते द्वारा भेजता है। शब्द बनाए जाते हैं। जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ती जाती है, वैसे-वैसे शब्द बना लिए जाते हैं। अङ्गरेज़ी इतनी पूर्ण क्यों हो गई? इसका यही कारण है कि उसमें आवश्यकतानुसार शब्दों का निर्माण होता रहा और अब भी होता रहता है। प्रति वर्ष सैकड़ों नए शब्द बनते हैं। जब से वायुयान, बेतार का तार इत्यादि का आविष्कार हुआ, तब से तत्सम्बन्धी सैकड़ों नए शब्द बना लिए गए। हिन्दी की ऐसी क्षमता कहाँ? जब लोग उसे बोलना ही पसन्द नहीं करते, तब शब्द कौन गढ़े?

तीसरा—जब अङ्गरेज़ी का प्रचार अधिक है तो व्यवहार भी अधिक होना आवश्यक है।

एक दूसरे सज्जन बोल उठे—क्षमा कीजिएगा, व्यवहार अधिक तो है ही, पर आप जैसे लोगों ने कुछ शौक़िया भी उसे बढ़ा रक्खा है। मैं कई ऐसे लोगों को जानता हूँ, जिनकी यह अभिलाषा है कि यदि उनकी पत्नी अङ्गरेज़ी जानती होती तो उससे अङ्गरेज़ी ही में बातचीत करते। जब यह दशा है तो उसका व्यवहार अधिक क्यों न हो? आप ही लोग अभी दो घण्टे से अङ्गरेज़ी ही बोल रहे थे।

इस समय अङ्गरेज़ी बोलने की भला क्या आवश्यकता थी ? क्या आप समझते थे कि हम लोगों में से कोई अङ्गरेज़ी नहीं समझ सकता ?

तीसरा—जी नहीं, हम लोग विद्यार्थी ठहरे। हम लोगों को अङ्गरेज़ी बोलने का अभ्यास करना आवश्यक है, इसलिए परस्पर अङ्गरेज़ी बोलते हैं।

मैंने कहा—अभ्यास इतना न होना चाहिए कि स्वभाव में परिवर्त्तित हो जाय। अभ्यास के लिए कॉलिज का समय यथेष्ट है। जब तक आप लोग कॉलेज में रहते हैं, तब तक आप ख़ूब अङ्गरेज़ी बोलिए; परन्तु उसके पश्चात् बिना आवश्यकता के उसका व्यवहार मत कीजिए।

इतना सुन कर वे सब चुप हो गए। इसके पश्चात् फिर उन्होंने अङ्गरेज़ी में बात नहीं की—हिन्दी ही बोलते रहे। मैंने सोचा—चलो इतना क्या कम है; इन्हें कुछ ध्यान तो हुआ।

सम्पादक जी, अङ्गरेज़ी शिक्षा आवश्यक है, यह बात मै मानता हूँ; पर आजकल जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित है, वह बड़ी दूषित है। शिक्षा का अर्थ है ज्ञान-वृद्धि। शिक्षा वही अच्छी है, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो, मनुष्य तथ्य निकालने की क्षमता प्राप्त कर सके और जिससे व्यवहार-कुशलता उत्पन्न हो। आजकल की शिक्षा की दशा यह है कि उच्च-शिक्षा प्राप्त करने तक मस्तिष्क एक प्रकार से बेकाम

परोपकार बड़ी अच्छी बात है, क्यों ? अमुक साहब ने अपने अमुक ग्रन्थ में परोपकार की बड़ी प्रशंसा की है। एक बार मुझसे एक सुशिक्षित कहलाने वाले महाशय बोले, "गाँधी जी वास्तव में महात्मा हैं।" मैंने पूछा—"क्यों ?" उन्होंने कहा—"यूरोप के कई बड़े-बड़े विद्वानों ने उनकी प्रशंसा की है।" मैंने सोचा हद हो गई। जब यूरोप के विद्वानों ने प्रशंसा की, तब इन्हें यह पता चला कि गाँधी जी महात्मा हैं। यदि यूरोप के विद्वान् प्रशंसा न करते या इन्हें यह पता न चलता कि किसी यूरोपियन ने भी गाँधी जी को महात्मा माना है, तो इन्हें उनके महात्मा होने में सन्देह ही रहता। अङ्गरेजी शिक्षा ने हम लोगों को इतना निकम्मा बना दिया कि हम बिना यूरोप तथा अमेरिका की सहायता के यह निर्णय भी नहीं कर सकते कि कौन बात अच्छी है और कौन बुरी। जब किसी सुशिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति से बात कीजिए और किसी साधारण-सी बात का निर्णय करने लगिए तो वह झट कहने लगेगा कि इसके सम्बन्ध में तो फ़ान्स का अमुक विद्वान् यह कहता है, अङ्गरेजी का अमुक व्यक्ति यह कह गया है। यदि इन भले आदमियों से पूछा जाय कि दुनिया ने तो कहा है, पर आप भी कुछ कहते हैं या नहीं, तो झट कह देंगे कि "जो उन्होंने कहा है वही हम भी ठीक समझते हैं।" बहुत सस्ते छूटे। स्वयं निर्णय करने में मस्तिष्क पर जोर पड़ता है, कुछ

तत्वदर्शन की आवश्यकता भी पड़ती है। पर यहाँ दोनों के स्थान पर केवल शून्य है; इसलिए साहब लोगों की गवाही पेश करके अलग हो जाते हैं।

पुस्तकें लिखी जाती हैं तो उनमें भी यही राग अलापा जाता है। पुस्तक तो स्वयं लिख रहे हैं, पर कथन यूरोप के लोगों के दे रहे हैं। यूरोप के विद्वान् जिस सम्बन्ध में लिखते हैं तो दुनिया भर की राय देने के पश्चात् यह अवश्य लिखते हैं कि इस सम्बन्ध में मेरी राय यह है। इसके पोषण में वे अपनी दलीलें भी दे देते हैं। अब पढ़ने वाला इससे स्वयं निर्णय कर सकता है कि उनका कथन कहाँ तक ठीक है। पर अधिकांश काले आदमी जब लिखेंगे, तब यही लिखेंगे कि अमुक-अमुक साहब लोग इसके सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं, इसलिए यह बात ऐसी ही है। मानो साहब लोग कभी ग़लत कह ही नहीं सकते, उनसे भूल हो ही नहीं सकती, उनका तर्क काटा ही नहीं जा सकता। सम्पादक जी, मैंने अनेक अङ्गरेजी पढ़े-लिखे और सुशिक्षित कहे जाने वालों को यह कहते सुना—"मदर-इण्डिया पुस्तक खूब लिखी है; हिन्दुस्तान का चित्र खींच दिया है।"

यह उस समय की बात है कि जब 'मदर-इण्डिया' का विरोध आरम्भ ही हुआ था। इनमें से एकाध तो ऐसे भी निकले, जिन्होंने मदर-इण्डिया की सूरत तक न देखी थी। जब उनसे पूछा गया कि आपको कैसे मालूम हुआ;

आपने मदर-इण्डिया पढ़ी है ? तब आप बोले—"जी नहीं, पढ़ी तो नहीं है; पर एक अमेरिकन लेडी की लिखी हुई है; इसलिए ज़रूर अच्छी होगी।" ठीक है ! एक तो अमेरिकन, दूसरे लेडी। उसकी लिखी पुस्तक बुरी कैसे हो सकती है ? उनके लिए पुस्तक पढ़ना आवश्यक नहीं था—केवल मिस मेयो का नाम ही यथेष्ट था।

इसके प्रतिकूल यदि उनसे कहा जाय कि हमारे अमुक ऋषि ऐसा कह गए हैं, हमारे प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा लिखा है, तो प्रथम तो उन्हें इसी बात में सन्देह उत्पन्न होगा कि इस नाम के कोई ऋषि हो गए हैं। यदि ऋषि का अस्तित्व होना मान भी लिया तो उनकी बात मानना असम्भव। "क्यों महाशय, इसका क्या प्रमाण है कि जो उन्होंने लिखा वह ठीक है ? अमुक ग्रन्थ प्रामाणिक है, यह हम कैसे मान लें ?"—इत्यादि बातें करने लगते हैं। यदि उनसे कहा जाय कि जिस प्रकार आप यूरोप के विद्वानों की बातें बिना कान-पूँछ हिलाए मान लेते हैं, वैसे ही इसे भी मान लीजिए, तो उत्तर देते हैं—"वाह ! वे विद्वान् तो अभी मौजूद हैं, या अमुक सन् में थे। आप बता सकते हैं कि आपके ऋषि कब हुए ?" "नहीं महाशय, यह बताना तो कठिन है।" "तब फिर कैसे मान लें ?" पर यदि उसी बात पर किसी गोरे चमड़े वाले की छाप लग जाय तो झट मान लेंगे। उस समय यह प्रश्न नहीं उठता कि वह ऋषि कब हुए और

कहाँ हुए। आवश्यकता ही क्या है ? साहब बहादुर ने काफ़ी छानबीन करके ही माना होगा।

सम्पादक जी, जिधर देखिए यही दशा है। शिक्षा में, आचार-विचार में, परिच्छादन में—कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसमें कुछ भी स्वतन्त्रता हो। सब में चातक की तरह यूरोप तथा अमेरिका की तरफ़ मुँह बाए खड़े हैं। वे जिसे ठीक कह दें वह ठीक, वह जिसे ग़लत कह दें वह ग़लत। एक प्रकार से यह होना स्वाभाविक है। ग़ुलाम प्रत्येक बात में अपने मालिक का मुखापेक्षी होता है। परन्तु जब यह ज्ञान हो चला है कि ग़ुलामी बुरी है, तो उसके साथ यह ज्ञान भी उत्पन्न होना चाहिए कि ग़ुलामों की भाँति प्रत्येक बात में मालिक को आदर्श समझ लेना भी बुरा है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

१४

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

मैंने जो कहा था वह तो कलक्टर साहब ने किया नहीं, अर्थात् स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध नहीं किया। अपने राम भी अकड़ गए कि जाओ हम भी नहीं मिलेंगे। मगर मुहल्ले वालों ने बहुत समझाया कि जाने दो ग़म खाओ, स्पेशल ट्रेन न सही, योंही मिल आओ। इधर लल्ला की महतारी ने भी कहा—'इस्पिसिल नहीं है तो क्या जाओगे नहीं, रात-दिन तो पैदल जूतियाँ चटकाते घूमते हो—कोई भला मानुष बुलाता है तो इस्पिसिला माँगते हो।' बस जनाब, इस पर अपने राम धोती के बाहर हो गए, कड़क कर बोले—जूतियाँ चटकाना च मानी दारद ? हम चहल-क़दमी करते हैं या जूतियाँ चटकाते घूमते हैं, हिश्त ! अब कहा तो कहा, पर अब ऐसी बात मुँह से न निकालना, नहीं तो दिलों में रञ्ज पैदा हो जायगा।

ख़ैर साहब, कलक्टर साहब ने अपनी मोटर भेजने के लिए कहा—परन्तु मैंने कह दिया कि या तो हम स्पेशल पर आवेंगे या फिर अपनी पैरगाड़ी पर। कौन पैरगाड़ी ?

बाइसिकिल नहीं—अपनी क़ुदरती पैरगाड़ी ? अब तो समझे, अब भी न समझो तो मैं मजबूर हूँ। ख़ैर साहब, मैं मोटर पर नहीं गया—मोटर की तो हैसियत ही क्या ? ऐसी दशा में मैं इक्के तक पर तो जाता नहीं—या तो स्पेशल हो या फिर अपनी वही प्राइवेट पैरगाड़ी।

कलक्टर साहब के बँगले पर ठीक समय पर पहुँच गया। चपरासी ने कहा—साहब आपको सलाम देते हैं।

हमने उत्तर दिया—हम साहब को डबल सलाम देता है।

चपरासी बोला—'आप समझे नहीं—साहब आपको बुलाते हैं।' हमने कहा—'ओ—यह बात है ? तब तुम पहले ही क्यों नहीं इस माफिक बोला।'

चपरासी ने कहा—सलाम देने के मानी यही हैं कि बुलाते हैं।

हमने चपरासी से कहा—ऐसा मानी साहित्य के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलने सकता—तुम बिलकुल मूर्ख है।

चपरासी—अच्छा चलिए, मैं मूर्ख ही सही।

ख़ैर—हम साहब के सामने पहुँचे। भीतर जाते समय चपरासी ने टोपी और जूते बाहर ही रखवा लिए। हमने साहब को जाते ही एक लम्बा सलाम झुकाया। साहब ने हमसे हाथ मिलाया—पुर्खों में से आधे दर्जन तो उसी समय गया में पिण्ड पाकर तृप्त हो गए। मैंने साहब से

कहा—आपके चपरासी ने टोपी और जूते रखवा लिए हैं, कोई खटके की बात तो नहीं है? आपका जाना-बूझा नौकर है न?

साहब बोले—नहीं डूबे जी—कोई फिक्कर का बाट नहीं है। अगर आपका टोपी-जूटा चला जायगा टो हम आपको हजार टोपी और हजार जूटे डेने सकटा है।

मैंने मन में कहा—तब तो चपरासी टोपी-जूते ले ही जाय तो अच्छा है। मैं यह सोच ही रहा था कि साहब फिर बोले—'डूबे जी, मैं बीच ही में बोल उठा—साहब, न मैं डूबा हूँ, न बहा हूँ, मैं हट्टा-कट्टा आपके सामने बैठा हूँ। आप बार-बार 'डूबे' न कहिए।

साहब—टो क्या आपका नाम डूबे जी नहीं है?

मैं—मेरा नाम डूबे जी नहीं, दुबे जी है।

साहब—ओ! वही टो हम भी कहटा है डूबे जी।

मैं—नहीं साहब, डूबे जी नहीं, दुबे जी।

साहब—डुबे जी, अच्छा जैसा आप बोलें, ठीक है।

मैंने सोचा, डूबे जी से तो डुबे जी ग़नीमत है, चलो जाने दो, ऐसा ही सही।

साहब—हाँ टो डुबे जी, हमने सुना है, आप चिट्ठी लिखटा है।

मैं—चिट्ठी लिखने वाले आपकी कचहरी में और चौक के नुक्कड़ पर बैठते हैं।

साहब—आप अपने घर में बैठ कर लिखटा है?

मैं—हाँ, यह बात कुछ ठीक है। घर में बैठे-बैठे तो मैं न जाने क्या-क्या किया करता हूँ।

साहब—आपका चिट्ठी बहोट अच्छा होटा है।

मैं—अजी नहीं, आपको मेरे सर की क़सम सच कहिएगा?

साहब—क़सम! क़सम किस बाट का?

मैं—आप सच कहते हैं या ख़ाली मेरे ख़ुश करने को?

साहब—नहीं, बिल्कुल सच कहटा है।

मैं—तब तो ठीक है। हाँ, सुना तो मैंने भी था कि मैं चिट्ठियाँ लिखता हूँ।

साहब इतना सुन कर बहुत हँसे, बोले—आप बड़ा सरस आदमी है, आपका बाट में बड़ा हँसी आटा है।

मैं—आप ठीक कहते हैं।

साहब—आप हमारे पास चिट्ठी लिखा करें।

मैं—आप कोई बढ़िया सा हिन्दी का एक मासिक पत्र निकालिए, फिर देखिए कितनी चिट्ठियाँ उड़ाता हूँ। बड़ा मजा रहे। आप उसके सम्पादक बन जाइए और मैं चिट्ठी लेखक।

साहब—सो टो होने नहीं सकटा।

मैं—नहीं होने सकटा तो मौज करो, मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है जो ख़ामख़ाह चिट्ठी लिखूँ।

साहब—आप लिखिए, हम आपको बड़ा भारी खिटाब डेगा।

मैं—मैं ख़िताब नहीं लूँगा। मुझे ख़िताब लेकर क्या करना है।

साहब—आप ऐशा बाट बोलटा है! जिटना बड़ा आदमी है वह शब खिटाब के पीछे पागल घूमटा है।

मैं—हाँ घूमते होंगे, घर के फ़ालतू होंगे तभी घूमते होंगे।

साहब—नहीं-नहीं, शब बड़ा अमीर आडमी होटा है।

मैं—ख़िताब के लिए मारे-मारे फिरने वाले दिल के कङ्गाल ही होते हैं।

साहब—सो टो आप ठीक बोलटा है डुबे जी, आई बेग योर पार्डन—डुबे जी। वह बिलकुल कङ्गाल का माफ़क बाटचीट करटा है।

मैं—मैं तो पहले ही ताड़ गया था—अजी यहाँ ऐसी बातें नाख़ूनों में भरी पड़ी हैं।

साहब—टो आप खिटाब लेगा?

मैंने कुछ सोच कर कहा—ख़ैर मुझे आप ख़िताब दें या न दें, मगर लल्ला की महतारी को ज़रूर कोई ख़िताब दे दीजिए। उसकी बदौलत मेरा भी नाम चल जायगा—राय-बहादुरिन, रायसाहबिन, ऐसा ही कोई ख़िताब दे दीजिए।

साहब—लल्ला का महटारी कौन है?

मैं—वह मुझ कमबख़्त की घर वाली है।

साहब—घर वाली—माने वाइफ़ ?

मैं—यस सर।

साहब मुस्करा कर बोले—आपके किटनी वाइफ़ है ?

मैं—जी, वह मेरी एकलौती जोरू है।

साहब—यू मीन, ओन्ली वाइफ़ ?

मैं—यस सर।

साहब—टब टो बड़ा अच्छा बाट है। एक से जाड़ा जोरू रखना बड़ा ख़राब बाट है।

मैं—बड़ा बुरा है, एक ही के मारे नाई की दाल नहीं गलती—दो-चार हों तो नाई की रोटियों का ठीकरा ही ग़ायब हो जाय।

साहब—आप शच बोलटा है।

मैं—हाँ, तो लल्ला की महतारी को रायबहादुरिन बना दीजिए।

साहब—आप रायबहादुर बन जाइए—टब वह भी रायबहादुरिन हो जायगी।

मैं—नहीं, मैं चाहता हूँ कि उसके पीछे मेरा नाम हो। लोग कहे कि दुबे जी अमुकी के पति हैं। आजकल इसी का फ़ैशन है।

साहब—ऐसा फैशन टो नहीं है।

मैं—अजी है कैसे नहीं—फ़ैशन चलाने वालों ने तो चला दिया, अब उसको प्रचलित करना हमारा आपका काम है।

साहब—ऐसा नहीं होने सकटा, औरट को खिटाब नहीं मिलने सकटा।

मैं—तो औरत के होते हुए हमारा माफिक मर्द भी खिताब नहीं लेने सकता।

साहब—अच्छा, टुम्हारा खुसी का बाट है। हम टो खिटाब देने को राजी है।

मैं—यही देख कर तो लालच लग रहा है। अच्छा न सही, जाने दीजिए, न मुझे खिताब चाहिए न मेरी घर वाली को, आप मेरे होनहार लल्ला को खिताब दे दीजिए।

साहब—लल्ला, लल्ला कौन ?

मैं—मुझ नालायक़ द्वारा ज़बरदस्ती दुनिया में घसीट कर लाया हुआ एक छोटा सा प्राणी है।

साहब—क्या, हम समझा नहीं।

मैं—आप पहले मुझसे थोड़ा साहित्य पढ़ लीजिए। क़सम है भङ्ग भवानी की, एक पैसा न लूँगा, मुफ़्त पढ़ा दिया करूँगा। आपकी इच्छा हो तो कभी-कभी ठण्ढाई छनवा दिया कीजिएगा, और आप भी छाना कीजिए, क्या आनन्द आता है। ग़ज़ब ! ईसामसीह का आप ऐसा कवित्वपूर्ण वाक्य न समझे। इस समय यदि कोई साहित्यिक इस वाक्य को सुनता तो लोट-पोट हो जाता, मगर वही मसल है कि अन्धे के आगे रोवे अपने दीदे खोवे।

साहब—आप में ह्यूमर (हास्य-रस) बहुत है।

मैं—तसलीम ! यह आपकी क़द्रदानी है, वरना बन्दा एक निहायत नालायक़, बदतमीज़ और उल्लू की दुम, फ़ाख़ता आदमी है।

साहब—नहीं, ऐसा न कहिए—आप बहुट ही अच्छा आदमी है।

मैं—फिर कहता हूँ कि यह आपकी शराफ़त है जो आप ऐसा समझते हैं, वरना बन्दा तो एक निहायत ही पाजी आदमी है।

साहब—हाँ, वह लल्ला कौन है ?

मैं—वह मेरा पुत्र है।

साहब—पुट्र किसको बोलटा है ?

मैं—यह बड़ी कठिनता है—जितनी बढ़िया भाषाएँ हैं, उनमें से आप एक भी नहीं समझते—अब काम चले तो कैसे चले ? इसी से तो कहता हूँ कि थोड़ा साहित्य पढ़ डालिए, फिर देखिए हमारे आपके वार्त्तालाप में क्या आनन्द आता है। पुत्र लड़के को कहते हैं ?

साहब—ओ लरका, बाबा लोग ?

मैं—उसे आप बाबा समझिए या पड़बाबा, पर मैं तो उसे अभी लड़का ही समझता हूँ।

साहब—लरका लोग को खिटाब मिलने नहीं सकटा। वह जब बालिग हो जायगा टब मिलने सकेगा।

मैं—अजी जब बालिग़ हो गया तब क्या लुत्फ़ रहा—लुत्फ़ तो तभी है जब नाबालिग़ को ख़िताब दो।

साहब—नहीं-नहीं, वह सब गलट बाट है।

मैं—ग़लत है तो जाने दीजिए। नहीं, जाने क्यों दीजिए, एक बात कीजिए न, उसे 'भविष्य में होने वाला रायबहादुर' यह ख़िताब दे दीजिए।

साहब—क्या बोला?

मैं—उसे 'उड-बी-रायबहादुर' का ख़िताब दे डालिए।

साहब—इश माफ़क का कोई खिटाब नहीं है।

मैं—ओहो, आप तो न हारी मानते हैं न जीती। इतनी तरकीबें बताईं; पर एक भी आपकी समझ में न आई—अफ़सोस।

साहब—वह सब पागलपने का बाट है।

मैं—पागल तो मेरे ख़ानदान में कोई सात पुश्त से नहीं है। हाँ, आप अलबत्ता कुछ सिड़ी मालूम होते हैं।

इतना सुनते ही साहब एकदम से खड़े हो गए और घण्टी बजाई। उनके घण्टी बजाते ही वही चपरासी आया।

साहब उससे बोले—इनको बहुट इज्जट के साथ कान पकड़ कर बाहर कर दो।

मैंने कहा—आप चपरासी को क्यों तकलीफ़ देते हैं, मैं ख़ुद ही कान पकड़ कर चला जाऊँगा।

यह कह कर मैं अपने दोनों कान पकड़े हुए बाहर चला आया। चपरासी ने झुक कर सलाम किया और बोला—मेरा इनाम दिलवाइए।

मैंने कहा—बेशक, तुमने मेरे कान नहीं पकड़े, इसलिए तुम्हें इनाम ज़रूर मिलेगा, मगर उस्ताद पहले वह टोपी और जूते तो दिलवाओ।

चपरासी ने टोपी और जूते दे दिए। मैंने उसे सवा छै आने पैसे इनाम दे डाले और घर चला आया। सम्पादक जी, अब मैंने क़सम खा ली है कि किसी हाकिम से मिलने न जाऊँगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

१५
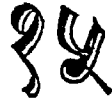
अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आप "फाँसी-अङ्क" निकालने जा रहे हैं ? फाँसी पर इतनी ख़फ़गी ! आख़िर आप फाँसी से इतने नाराज़ क्यों हैं, पहले यह बताइए। यद्यपि इतनी उम्र में आज तक मुझे कभी फाँसी नहीं हुई, परन्तु फिर भी मुझे फाँसी से कुछ स्नेह-सा है। कई बार यह जी में आया कि फाँसी पाने में मनुष्य को कैसा मालूम होता होगा, इसका अनुभव करना चाहिए। अतएव बच्चों के लिए घर में पड़े झूले की रस्सी का फन्दा बना कर मैंने अपने गले में डाला और उसे धीरे-धीरे कसना आरम्भ किया। मुख की चेष्टा देखने के लिए सामने दर्पण रख लिया था। पहले तो ऐसा मालूम हुआ कि श्वास-नलिका बन्द होकर दम घुट रहा है। दर्पण में मुख देखा तो चित्त प्रसन्न हो गया, चेहरा कुन्दन की तरह दमक रहा था। यदि वह कान्ति स्थायी हो सकती तो क्या कहना था ! केवल एक बुराई थी; और वह यह कि साथ ही आँखें भी रक्त-वर्ण हो गई थीं। उन्हें देख कर किञ्चित् भय मालूम होता था, परन्तु वे अपनी ही आँखें थीं इसलिए कोई

खतरे की बात नहीं थी। मैंने फन्दे को और कसा। अब मुख अधिक लाल हो गया। मैंने सोचा, यह अच्छा नुस्खा हाथ लगा। मुख की लाली जब जितनी चाहो घटा-बढ़ा लो। वाह-वाह! बड़ी सुन्दर बात है। परन्तु आँखों पर जो दृष्टि पड़ी तो पिंडलियाँ काँप गईं। आँखें बिलकुल ख़ून जैसी हो गई थीं और बाहर को उबल आई थीं। परन्तु जब याद आया कि अपनी ही आँखे हैं तब चित्त कुछ ठिकाने हुआ। मैंने फन्दे को और कसा। अब तो मुख भयानक हो गया। सब शिराएँ फूल गईं, और वर्ण बहुत ही लाल हो गया। और आँखें—जान पड़ता था कि बाहर निकल कर गिरी पड़ रही हैं। श्वास के रुकने से छाती में से एक गोला-सा उठ कर ऊपर की ओर आने लगा। चित्त बहुत घबराया; परन्तु मैंने सोचा कि जहाँ तक होश ठिकाने रहे, वहाँ तक तो इसको जारी रखना चाहिए। यह सोच कर मैंने फन्दा थोड़ा सा और कस दिया। अब दर्पण में मुझे अपना मुख दीखना बन्द हो गया, आँखों की दृष्टि नष्ट हो गई। जान पड़ता था कि आँखों के आगे काला पर्दा पड़ गया, यद्यपि आँखे खुली थीं। सिर की यह दशा थी कि जान पड़ता था कि सारे शरीर का रक्त सिर में इकट्ठा हो गया है और उसके कारण सिर की सब शिराएँ फटी जा रही हैं। कान भी बहरे हो गए, उनकी श्रवण-शक्ति नष्ट हो गई। आँखों को कोई बाहर की ओर निकाले ले रहा था। वक्षस्थल की कोई

चीज़ शरीर के बाहर निकलने की चेष्टा कर रही थी। मैं इस प्रयोग को कदाचित् चार-छः सेकेण्ड तक और जारी रखता, परन्तु दुर्भाग्य से वहाँ लल्ला की महतारी आ गई। उसने जो यह कृत्य देखा तो एक चीख़ मारी और दौड़ कर मेरे हाथ से रस्सी छुड़ा ली और फन्दा खोल दिया। कोई एक मिनट बाद मुझमें पुनः देखने-सुनने की शक्ति आई। इस प्रयोग में कोई चार-पाँच मिनट लगे होंगे। मैं ठीक नहीं कह सकता, पर इससे अधिक नहीं लगे। ऐसा मेरा विश्वास है। लल्ला की महतारी ने पूछा—फाँसी क्यों लगा रहे थे ?

मैंने कहा—कुछ नहीं, ज़रा मज़ा आ रहा था, परन्तु तुमने सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। यदि दस-पाँच सेकेण्ड तुम न आतीं तो मैं फाँसी का पूरा आनन्द ले लेता।

लल्ला की महतारी ने नेत्र विस्फारित करके पूछा—आनन्द ! क्या फाँसी में भी आनन्द आता है ?

मैंने उत्तर दिया—निस्सन्देह ! यदि फन्दे का घटाना-बढ़ाना अपने हाथ में हो।

लल्ला की महतारी बोली—यह सब तुम्हारी बातें हैं। मुझे बना रहे हो—तुम ज़रूर फाँसी लगा रहे थे।

यह कह कर उसने रोना आरम्भ किया। ख़ैर, वह मामला किसी तरह रफ़ा-दफ़ा हुआ। यद्यपि उसकी चख़-चख़ कई दिन तक बनी रही। लल्ला की महतारी से लड़ाई भी हुई, झगड़ा भी हुआ—सभी कुछ हुआ, परन्तु अन्त में

सब ठौर-ठिकाने हो गया। खैर, वह चाहे जो कुछ हुआ, परन्तु मुझे फाँसी का कुछ अनुभव तो हो गया। असली फाँसी में बातें यही होती होंगी, परन्तु एकदम से और अधिक तीव्र होती होंगी, बस !

अब रही यह बात कि मृत्यु-दण्ड की हैसियत से फाँसी अच्छी है या बुरी, सो इसके लिए उसके खण्डन तथा मण्डन में काफी दलीलें हैं। क़ानून की मन्शा है कि यदि मृत्यु-दण्ड न दिया जाय तो हत्याओं की मात्रा बढ़ जाय; क्योंकि मृत्यु-दण्ड का भय हत्याओं को रोकता है। यह बात किसी अंश तक तो ठीक कही जा सकती है; परन्तु पूर्णतया ठीक नहीं कही जा सकती। जो लोग हत्या करते हैं वे या तो यह समझते हैं कि उन्हें कोई पकड़ ही न सकेगा और या फिर यह सोचते हैं कि फाँसी ही तो होगी—होगी तो चढ़ जायँगे, एक दिन तो मरना ही है। अतएव इन दोनों दशाओं में मृत्यु-दण्ड का भय कुछ अधिक लाभ नहीं पहुँचाता। जो लोग मृत्यु-दण्ड के भय से हत्या नहीं करते, उनका हत्या करने का इरादा दुर्बल होता है, वे उस सीमा तक नहीं पहुँचते जहाँ पर कि हत्या कर ही डाली जाय। ऐसे आदमियों के लिए आजीवन जेल अथवा कालेपानी के दण्ड का भय भी लगभग उतना ही भयानक होता है, जितना कि मृत्युदण्ड। बहुत से आदमी तो कदाचित् आजीवन जेल में सड़ने की अपेक्षा मृत्यु-दण्ड पाना अधिक

अच्छा समझते हैं; क्योंकि जेल में रहने से आजीवन दुख और कष्ट भोगने पड़ते हैं और मृत्यु से सब कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। सच पूछिए तो मृत्यु-दण्ड कोई अच्छा दण्ड नहीं है। दण्ड के अर्थ यह हैं कि मनुष्य अपने किए हुए अपराध पर पश्चात्ताप करे और भविष्य में अपराध करने का साहस न करे। मृत्यु-दण्ड से पहली बात तो कुछ पूरी होती है; क्योंकि मृत्युदण्ड की प्रतीक्षा करने वाला, यदि वह मृत्यु-भीरु होता है तो, यह अवश्य सोचता है कि यदि मैं हत्या न करता तो मुझे फाँसी न मिलती; मैंने हत्या करके बहुत बुरा किया, परन्तु दूसरी बात कदापि पूरी नहीं होती; क्योंकि उसे अवसर नहीं मिलता। यदि उसे फाँसी न देकर २० वर्षों तक जेल में रक्खा जाय, तो जेल से छूटने के पश्चात् वह फिर कभी हत्या करने का साहस करेगा, यह नहीं कहा जा सकता। बीस वर्षों तक स्वतन्त्रता-हीन रह कर, जेल में अनेक यन्त्रणाएँ सहने के पश्चात् जो मनुष्य बाहर आएगा, वह फिर दुबारा बीस वर्षों के लिए जेल जाने के लिए कभी प्रस्तुत न होगा। बीस वर्ष क़ैद में रहना साधारण बात नहीं। बीस वर्षों में आदमी में बहुत बड़ा परिवर्त्तन हो जाता है। मैंने एक ऐसे ही व्यक्ति को देखा है। उसने अपनी पत्नी की हत्या कर डाली थी, अतएव उसे कालेपानी की सज़ा हुई थी। वह बीस अथवा कुछ कम वर्षों तक अण्डमन में रहने के पश्चात्

लौटा था। जेल जाने के पहले वह महा क्रोधी था और उसी क्रोध के कारण उसे अण्डमन जाना पड़ा था; क्योंकि पत्नी की हत्या उसने क्रोध के आवेश में ही की थी। परन्तु जब वह वहाँ से वापस आया तो वह बहुत ही सीधा-सादा मनुष्य हो गया। जब तक वह जीवित रहा, तब तक उसको किसी ने किसी से लड़ते-झगड़ते तक नहीं देखा; वरन् दूसरों को लड़ते-झगड़ते देख कर वह उन्हें समझाया करता था और क्रोधी मनुष्यों को उपदेश दिया करता था कि क्रोध मत करो, क्रोध बहुत बुरी चीज़ है। मुहल्ले भर में उससे अधिक शान्त-प्रकृति का मनुष्य दूसरा न था।

मेरे विचार से उसको समुचित दण्ड दिया गया। जिस बात ने उसे हत्या करने पर कटिबद्ध किया था, वह बात उसमें से निकाल दी गई और वह एक भला आदमी बन गया। यह सच्चा दण्ड था। क्या फाँसी दे देने से भी यही परिणाम निकलता है ? कभी नहीं।

फाँसी के पक्ष में एक बात यह कही जा सकती है कि फाँसी इसलिए नहीं दी जाती कि जिसे फाँसी दी जाती है उसे कुछ सबक़ मिले; क्योंकि फाँसी पाने वाले को तो संसार में रहना नहीं है, अतएव वह सबक उसके लिए व्यर्थ है। फाँसी दी जाती है दूसरों को सबक़ देने के लिए। एक को फाँसी देने से जनता भयभीत हो जाती है और उस अपराध को करने का साहस नहीं करती। परन्तु अनुभव से यह सिद्ध

हो चुका है कि जो हत्या करने के अभ्यस्त होते हैं, जैसे डाकू आदि, उनके लिए इस प्रकार का पाठ कुछ भी महत्व नहीं रखता। वे मृत्यु-दण्ड की सम्भावना रहते हुए भी हत्या करते ही हैं, और जो हत्या करने के अभ्यस्त नहीं हैं, वे क्षणिक आवेश में हत्या कर बैठते हैं, उस समय उन्हें मृत्यु-दण्ड या अन्य किसी भी दण्ड का ध्यान तक नहीं आता। यदि ध्यान आता है तो हत्या कर डालने के पश्चात्, जब कि उनका आवेश दूर होता है। ऐसों के लिए आजीवन कारावास भी समुचित दण्ड है। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में यह सोचना कि वे जेल से छूटने के पश्चात् भी पुनः हत्या करेंगे, तिल का ताड़ बनाना है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु-दण्ड न रहने पर आजीवन कारावास का दण्ड रहते हुए, लोगों के लिए हत्या करना सरल हो जायगा; क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे आदमी कम निकलेंगे जो आजीवन कारावास का दण्ड सहने के लिए सरलतापूर्वक तैयार हो जायँगे।

अब रही केवल उन लोगों की बात, जो अभ्यस्त हत्याकारी हैं और हत्या करना जिनका व्यवसाय-सा है। उनके लिए इतना ही यथेष्ट है कि वह ऐसे स्थान में रक्खे जायँ जहाँ कि वे हत्याएँ न कर सकें। यह उन्हे जेल में रखने से सरलतापूर्वक हो सकता है। "जीव के बदले जीव" का सिद्धान्त सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे भले ही ठीक हो, परन्तु

व्यावहारिक दृष्टि से वह अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होता। समाज को ऐसे सिद्धान्तों से क्या लाभ हो सकता है, जो व्यवहार में उपयोगी नहीं हैं। न्याय में दण्ड होना चाहिए, प्रतिहिंसा का भाव नहीं। एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति की हत्या की है, इसलिए उसके प्राण भी ले लिए जायँ, इसमें स्पष्ट प्रतिहिंसा-भाव है। जो बात एक व्यक्ति के लिए बुरी है वह सबके लिए बुरी है। यदि एक व्यक्ति के लिए किसी के प्राण लेना बुरा है तो बहुत से व्यक्तियों के लिए एक व्यक्ति के प्राण लेना भी बुरा ही है। हत्याकारी और दण्ड देने वालों में इतना ही प्रभेद तो है कि हत्याकारी एक व्यक्ति है और दण्ड देने वाले अनेक! यदि एक आदमी हत्या करता है तब तो वह बहुत बुरी बात है; परन्तु यदि बहुत से आदमी एक आदमी की हत्या करते हैं तो वह केवल इसलिए अच्छी समझी जाती है कि वे न्यायकर्त्ता के आसन पर अधिकार जमाए बैठे हैं! यदि एक आदमी किसी के यहाँ चोरी करता है तो उसके बदले में चोरी करने वाले का घर लुटवा लेना यदि न्याय नहीं है, तो हत्याकारी को फाँसी दे देना भी न्याय नहीं है। एक व्यक्ति किसी की नाक काट लेता है तो बदले में उसकी भी नाक क्यों नहीं कटवा ली जाती? यदि यह न्याय नहीं है तो हत्या के बदले में फाँसी दे देना भी न्याय नहीं है, और यदि फाँसी देना न्याय है तो चोर का घर लुटवा लेना और नाक काटने वाले की नाक

कटवा लेना भी न्याय है। जब प्रायः अन्य प्रत्येक अपराध के लिए जेल का दण्ड है, तब हत्या के लिए फाँसी का दण्ड क्यों ? यह समझ में नहीं आता। यदि कारावास-दण्ड से अन्य अपराध रोके जा सकते हैं, तो हत्याएँ क्यों नहीं रोकी जा सकतीं ?

मेरी क्षुद्र-बुद्धि में तो यही आता है कि फाँसी का दण्ड अनावश्यक होने के साथ ही साथ हिंसा तथा बर्बरता का द्योतक है। इसके विरुद्ध पाश्चात्य देशों के अनेक विद्वानो ने बहुत-कुछ लिखा है। अनेक पाश्चात्य देशो में मृत्यु-दण्ड की अमानुषिक प्रथा उठती जा रही है। इस सम्बन्ध में प्रभावशाली आन्दोलन हो रहे हैं! जब संसार अन्य बातों में सभ्यता की मूर्त्ति बन रहा है, तो भारतवर्ष को भी इस विषय में सभ्यता का परिचय देना चाहिए।

सम्पादक जी! चाहे इसे आप ख़ुशामद ही क्यो न समझें, पर मैं तो आपकी खोपड़ी की तारीफ करता हूँ। जो बात किसी को नही सूझती वह सूझती है आपको! आप अपने जीवन-काल मे एक बार ही सारे सुधार अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, पर यह हो कैसे सकता है? आप भूल जाते हैं कि हमारा देश गुलाम देश है। आपके अभिनन्दनीय विचारों का समर्थन सभी नहीं कर सकते, इसे भूलिएगा नहीं; बड़े पते की बात कह रहा हूँ। अब आप सरकारी कार्यवाहियों मे हस्तक्षेप करने जा रहे हैं,

यह कहाँ की बुद्धिमानी है ? सरकार मारवाड़ी या खत्री-समाज नहीं है, जो गालियाँ देकर भी आपकी प्रशंसा करे। वह निरङ्कुश है, ऐसी निरङ्कुश कि वह अपने अन्यायों को भी उपकार समझती है। मुझे भय है, आपकी इन खरी और सच्ची बातों को वह बर्दाश्त न कर सके। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए, उसने आपको फाँसी न देकर, आपके इस "फाँसी-अङ्क" को फाँसी पर लटका दिया तो सिवा कफे-दस्त मलने के और आप कर ही क्या सकते हैं ? मेरी इस शङ्का का आप क्या उत्तर देते हैं, आपके आगामी पत्र में मैं इसकी प्रतीक्षा करूँगा !

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की!!

आजकल जिधर देखिए उधर से हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े के समाचार आते रहते हैं। भाई, मैं तो इन समाचारों को पढ़ते-पढ़ते दुखी हो गया। मुझे आश्चर्य होता है कि इस बीसवीं शताब्दी में भी, जबकि शायद बेवक़ूफ़ों का जन्म ही नहीं होता, लोग इतने बेवक़ूफ़ क्यों हैं कि आपस में लड़ मरते हैं। मैंने कुछ दिन हुए एक पण्डित जी से इस विषय पर बातचीत की। मैंने उनसे प्रश्न किया—क्यों पण्डित जी, आजकल ये कलह और उपद्रव जो हो रहे हैं, आप इनका कुछ कारण बता सकते हैं?

यह सुनते ही पण्डित जी बहुत हँसे। बोले—इसका कारण जो है सो, स्पष्ट है। कलिकाल का समय है। पृथ्वी-माता पापियों और विधर्मियों के भार से त्राह-त्राह कर रही है। सो इस कारण करिकै जो है सो, पृथ्वीमाता का बोझ उतारने के निमित्त शङ्कर भगवान् अर्थात् महादेव बम-भोले ने अपना तीसरा नेत्र खोला है। सो महाराज, उन्हीं के पुण्य-प्रताप से यह संहार, जो है सो, हो रहा है। जब

पृथ्वी का भार हल्का हो जायगा, तब यह सब उपद्रव स्वयम् शान्त हो जायँगे। यह समय बड़े सङ्कट का है। महाराज, इस समय के विषय में जो धर्म करेगा, गो-ब्राह्मण की रक्षा और प्रतिपाल करेगा सो तो शङ्कर की संहार-लीला से त्राण पावेगा—शेष सब भस्म हो जावेंगे। सो महाराज, तुम भी नित्य दान दिया करो।

मैं बोल उठा—महाराज, दान तो अनेक प्रकार के होते हैं, उनमें से इस अवसर के लिए आप कौन सा दान उपयुक्त समझते हैं ?

पण्डित जी बोले—अनेक प्रकार के दान कैसे ?

मैंने कहा—जैसे अन्नदान, वस्त्रदान, पानदान, चिराग़दान, इलायचीदान, पाँवदान, इत्रदान इत्यादि-इत्यादि।

पण्डित जी बोले—आप तो मशखरी करते हैं।

मैंने कहा—फारसी की टाँग न तोड़िए, अपनी बोली में बातचीत कीजिए।

पण्डित जी ने कहा—मेरा तात्पर्य यह था, जो है सो, कि आप परिहास करते हैं।

मैंने कहा—मैं 'परिहास' शब्द के अर्थ ही नहीं जानता।

पण्डित जी—तब आपको कैसे समझाऊँ ?

मैं—खैर, जाने दीजिए, मैं चाहे जो करता हूँ, आप उसकी चिन्ता न कीजिए।

पण्डित जी ने जो कुछ कहा वह तो मैंने आपको बता

दिया। अब आप यह बताइए कि इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं। मैं इस सम्बन्ध में एक बड़ी प्राइवेट बात कहता हूँ, इसे अपने ही तक रखिएगा, किसी से कह मत दीजिएगा। वह बात यह है कि हिन्दू-मुसलमान सख्त ग़लती कर रहे हैं, जो आपस में लड़ते हैं। इससे किसी को कुछ लाभ नहीं पहुँचता है। मेरी यह भविष्यवाणी लिख कर टेंट में लगा लीजिए कि इसमें दोनों पक्षों को हानि पहुँचने के अतिरिक्त लाखों रुपए तक का लाभ भी होने की ज़रा सम्भावना नहीं। ये मूर्ख इतना नहीं समझते कि जल में रह कर मगर से बैर करने में आग ही भड़केगी, इसलिए दोनों को परस्पर मिल-जुल कर रहना चाहिए। उचित तो यह है कि एक साथ उठें, एक साथ खायें, एक साथ खेलें—यदि इस पर भी लड़ाई-झगड़ा हो जावे तो मुझे लिख भेजिएगा—मैं अफीम खा लूँगा। यद्यपि वात-व्याधि की दृष्टि से लल्ला की महतारी मुझे रोज़ अफीम खाने के लिए कहती है, पर मैंने सोच रक्खा है कि किसी महत्वपूर्ण अवसर से अफीम खाना आरम्भ करूँगा।

हाँ, तो इस सम्बन्ध में मेरी यह राय है—ज़रा ग़ौर से सुनिएगा—कि हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा अधिकतर समाचार-पत्रों और कुछ मनचले नेताओं के कारण होता है। समाचार-पत्र ऐसे-ऐसे व्यर्थ और बेतुके समाचार निकालते हैं, जिनको पढ़ कर लोगों की तबीयतें ख़ामख़्वाह भड़कती

हैं। इसी प्रकार कुछ नेता लोग अपने औंधे-सीधे व्याख्यानों द्वारा लोगों में सनसनी उत्पन्न करते हैं—उन्हें भड़काते हैं। पूछिए, बैठे-बिठाए बरैंइया का छत्ता छेड़ने से क्या लाभ ? इस विषय पर कल मेरी ओर से एक सभा हुई थी, जिसका सभापति भी मैं अपने ही आप बन गया था। हाँ, तो मैंने व्याख्यान इस प्रकार देना आरम्भ किया :—

"भाइयो और भाभियो" दर्शकों में से कुछ चिल्ला उठे—हैं, हैं यह क्या ? मैंने कहा कुछ नहीं, आप चुपचाप मेरा व्याख्यान सुनें नहीं तो मैं भाग जाऊँगा और आप परस्पर लड़-भिड़ कर मर जायँगे। इतना सुनते ही सब चुप हो गए। मैंने पुनः कहना आरम्भ किया—"भाइयो और भाभियो, मैं कहता हूँ कि आप हिन्दू-मुसलमान भाई आपस में क्यों लड़ते हैं ? बड़े अफ़सोस की बात है कि एक ओर तो आप कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई हैं और दूसरी ओर आप इस प्रकार लड़ते हैं जैसे दो विकट शत्रु परस्पर लड़ते हों। भाइयो, जूती-पैज़ार, डण्डमडण्डा और कुश्तमकुश्ता, गाली-गलौज से क्या मिलेगा ? यह जरूर है कि बहुतों के सिर की खुजली मिट जायगी, बहुतों को फस्द खुलाने की जरूरत न रहेगी, बहुतों को आत्म-हत्या नहीं करनी पड़ेगी। परन्तु अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का यह ढङ्ग ठीक नहीं। भाइयो, यह बातें बड़ी बुरी हैं। यह मैं मानता हूँ कि इसमें आप लोगों का अपराध

रुपए में सत्तरह आने भर भी नहीं है। यह सब अपराध समाचार-पत्रों और कुछ नेताओं का है। इस पर मेरी आज्ञा यह है कि आप लोग समाचार-पत्र पढ़ना बिल्कुल छोड़ दें, या यदि पढ़ें तो ऐसे समाचारों पर दृष्टि ही न डालें जो हिन्दू-मुसलमानों को भड़काने या उनके झगड़ों के सम्बन्ध में हों। भाइयो, अङ्गरेज़ी में एक कहावत है कि कभी-कभी अज्ञान भी परम सुखदायक होता है, सो यारो, इस सम्बन्ध में अज्ञान परम सुखदायक है। आप इसका ज्ञान बिल्कुल न रखिए कि अन्य स्थानो के हिन्दू-मुसलमानों में कैसी निबट रही है। आप केवल अपने यहाँ परस्पर खूब मेल-जोल रखिए। किसी ऐसे नेता या व्याख्यानदाता के व्याख्यान में मत जाइए जो हिन्दू-मुसलमानो के सम्बन्ध में व्याख्यान देता हो या दलबन्दी का सम्बन्धी हो। भाइयो, हिन्दू और मुसलमानों की अपनी-अपनी दलबन्दी दोनों मे परस्पर वैमनस्य उत्पन्न करने वाली हैं। सङ्गठन के यह अर्थ नहीं है कि हिन्दू अपना सङ्गठन अलग करें और मुसलमान अपना अलग। सच्चा सङ्गठन तो यह है कि हिन्दू-मुसलमानों का मिला हुआ सङ्गठन हो, अर्थात् खिचड़ी-सङ्गठन हो। क्यो न कहोगे, खिचड़ी सङ्गठन की कैसी कही ? भई, इस दिमाग़ से तो ऐसी बातें निकलेंगी, आप चाहे मानें या न मानें। मैं कहता हूँ कि जहाँ समाचार-पत्र पढ़ने का रोग; व्याख्यानों की बीमारी

और सङ्गठन का प्लेग नहीं पहुँचा है, वहाँ अब भी हिन्दू मुसलमानों में परस्पर मेल है। हिन्दू-मुसलमानों का अपना-अपना सङ्गठन यह मानी रखता है कि दोनों अपनी-अपनी दलबन्दी अलग-अलग करते हैं, और भाइयो, यह आप जानते ही हैं कि दलबन्दियों से सिवाय लड़ाई-झगड़ा होने के और कोई लाभ नहीं। बहुत से नेता लोग केवल व्याख्यान फटकारना जानते हैं, लड़ाई-झगड़ों के समय घरों में घुसे बैठे रहते हैं। जब लड़ाई-झगड़ा समाप्त हो जाता है, तब पुनः मूँछों पर ताव देते हुए व्याख्यान फटकारने के लिए आ धमकते हैं। मैं कहता हूँ कि आप ऐसे नेताओं की बात मत सुनिए। बहुत से समाचार-पत्रों के सम्पादकों का भी यही हाल है। वे भी बस क़लमघिसव्वल के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते। दिन भर बैठे क़लम घिसेंगे, ऐसे ऊटपटाँग समाचार देंगे, जिनसे खामख्वाह हिन्दू-मुसलमानों में जोश पैदा हो। जब इन दोनों में लड़ाई हो जाती है तब इनकी और भी बन आती है; ख़ूब नमक-मिर्च लगा कर उन समाचारों को अपने पत्र में देते हैं, जिससे कि उनके पत्र की बिक्री अधिक होती है और ख़ूब टके सीधे होते हैं। उनकी बला से, चाहे हिन्दू मरे या मुसलमान, उन्हें तो अपने पत्र की बिक्री से काम है। मैं कहता हूँ कि ऐसे पत्रों को आप कदापि न छुएँ, कहीं मिले तो एक पैसा ख़र्च करके दियासलाई खरीदें और उन्हें फूँक दें। क्यों, कैसी कही?

भई, मैं तो ऐसा ही कहता हूँ, चाहे इसे कोई माने या न माने।

उस दिन एक मुसलमान भाई से मेरी बातचीत हुई। वह बोले—हम लोग तो वही करेंगे जो हमारे उल्मा लोग कहेंगे।

मैंने कहा—जब लड़ाई होती है तब तो आपके उल्मा लोग हुजरे में छिप कर बैठ रहते हैं, मत्थे आप लोगों के जाती है। उल्मा लोग भी कभी मैदान में आकर लड़ते हैं? ऐसे उल्माओं की बात मानने से क्या फायदा? उल्मा लोग तो फ़तवा देने के मर्द हैं। अगर वह अपने फतवे को ठीक समझते हैं तो खुद आगे-आगे चलें या ग़रीबों का ही गला कटाना जानते हैं। भाइयो, आप लोगो के भी आँख-कान हैं, आपको भी खुदा ने अक़्ल दी है—आप ख़ुद उस अक्ल से काम लीजिए। क्यों, कैसी कही? कुछ बेवक़ूफ़ कह उठते हैं कि यह लड़ाई धर्म के कारण होती है। मैं कहता हूँ कि आज के २० वर्ष पहले क्या हिन्दू-मुसलमान अपने-अपने धर्म का पालन नहीं करते थे? यदि करते थे तो फिर आज कौन सी ऐसी नई बात हो गई जो बात-बात पर कटे मरते हैं। हाँ, कुछ हठधर्मी अवश्य उत्पन्न हो गई है। मैं फिर कहता हूँ कि आप ऐसे आदमियों की बातों पर कान मत दीजिए, जो परस्पर लड़वाने की बातें करते हैं। बस, मेरी इतनी ही आज्ञा है।

क्यों सम्पादक जी, न कहिएगा कैसा व्याख्यान दिया। मगर अफसोस यही है कि लोग मेरी बातों को मजाक़ में उड़ा देते हैं।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

—

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

प्रेतात्माओं के सम्बन्ध में आप जो लेखमाला प्रकाशित कर रहे थे, वह आपने बन्द कर दी, यह अच्छा किया। वैसे मैं एक हद तक प्रेतात्मवाद पर विश्वास करता हूँ। यह मैं मानता हूँ कि प्रेतात्माओं का अस्तित्व है और यह भी मानता हूँ कि वे कभी-कभी मनुष्यों को दिखाई भी पड़ती रहती है, परन्तु यह मैं नहीं मानता कि संसार में जितने रोग, कष्ट तथा दुख होते हैं, वे प्रेतात्माओं ही के उपद्रव से होते हैं। प्रेतात्मवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि संसार में जो हत्याएँ और चोरियाँ होती हैं, उनमें भी बहुधा प्रेतात्माओं का ही हाथ होता है। प्रेतात्माएँ जिससे रुष्ट होती हैं, उसका अनिष्ट किसी दूसरे मनुष्य से (उस पर अपना प्रभाव डाल कर) करा देती हैं। यह बात कहाँ तक ठीक है, यह मैं नहीं कह सकता। अन्य शास्त्रों की तरह प्रेतात्मवाद भी मनुष्यो के कर्मों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। ज्योतिष-शास्त्र कहता है कि मनुष्य के जीवन में जो सुख-दुखपूर्ण परिवर्त्तन हुआ करते हैं, वह सब ग्रहों का फल है।

आयुर्वद-शास्त्र कहता है कि कफ, पित्त, वात ये तीन ही मनुष्य का जीवन हैं, और जब ये कुपित हो जाते हैं तो मनुष्य के प्राणों पर आ बनती है। होम्योपैथी 'विषस्य विषमौषधम्' का सिद्धान्त मानती है। बायोकेमिक अपने बारह लवणों को ही मनुष्य के स्वास्थ्य तथा रोगों का कारण बताती है। यह दशा देख कर प्रेतात्मवादियों ने सोचा कि हम ही फिसड्डी क्यों रहें, अतएव उन्होंने कहना आरम्भ किया कि प्रेतात्माएँ रोग भी उत्पन्न करती हैं!! चलिए, अब तो प्रेतात्मवाद को लोग मानेंगे। आदमी किसी वस्तु को उसी समय मानता है जब उससे उसे सुख अथवा दुख मिलता है। प्रेतात्मवाद से किसी को कोई विशेष लाभ अथवा सुख मिला हो, यह तो अभी तक सुना नहीं। हाँ, अपने-मृत सम्बन्धियों का दर्शन तथा उनसे वार्त्तालाप करने की बात कही जाती है। परन्तु उसमें बड़ा मतभेद है। अधिकांश लोग यह कहते हैं कि यह सब ढोंग है। विज्ञान की कृपा से मनुष्य में अब इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई है कि वह इस ढङ्ग की बातें बहुत सरलतापूर्वक दिखा सकता है। तीन-चार वर्ष हुए अङ्गरेजी के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "पियर्सन वीकली" में लण्डन की एक बड़ी प्रसिद्ध "मध्यस्थ" (Medium) ने प्रेतात्माओं के दर्शन तथा उनसे वार्त्तालाप करने के रहस्य पर प्रकाश डाला था। उसने जो कुछ लिखा उसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रेतात्माओं का खेल दिखाना

बहुत साधारण बात है। स्वयं उसने वर्षों तक बड़े-बड़े चतुर लोगों की आँखों में धूल झोंकी। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों की धारणा भी यही है कि प्रेतात्मवाद मे ढोग, धोखा तथा फरेब बहुत और सत्यता नाम-मात्र की है।

यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रेतात्मवाद में कुछ सत्यता है, तो हुआ करे। जिन्हें उस विषय से रुचि होगी वह उसका अध्ययन करेगें। यों अकारण लोगों को इसकी ओर आकर्षित करना और उन्हें भय दिखला कर उसमें उनका विश्वास उत्पन्न कराना युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ता। एक तो हम हिन्दुओं के संस्कार ऐसे हैं कि बालपन में माता-पिता से भूत-लीलाओं की बातें सुन-सुन कर यह दशा हो गई है कि दाढ़ी-मूँछ के ज्वान हो जाने पर भी रात में यदि चूहे खड़बड़ करते हैं, तो कलेजा धड़कने लगवा है। यही ख्याल आता है कि प्रेत आया; किसी अँधेरी कोठरी में घुसते हैं तो यही भय लगा रहता है कि कहीं कोई प्रेत महाशय हृदय से न लगा लें। रात को जङ्गल में कहीं आग जलती देखी तो यह सोच कर रोएँ खड़े हो जाते हैं कि अगिया-बैताल है। छोटे-छोटे बच्चों के मस्तिष्क में हमारी माताएँ बाल्यावस्था मे ही भूत तथा चुड़ैलों का भय ठूँस-ठूँस कर भर देती हैं। इसका फल यह होता है कि वे जन्म भर के लिए डरपोक तथा कायर हो जाते हैं। सम्पादक जी मैं ऐसे-ऐसे लोगों को जानता हूँ कि जो तीन-तीन,

चार-चार बच्चों के बाप हैं, पर यदि उन्हें रात में अपने ही मकान की किसी अँधेरी कोठरी में जाना होता है तो जोरू को साथ लेकर जाते हैं। क्यों ? इसलिए कि यदि अकेले जायँगे तो प्रेत महाशय उन्हें गले लगा लेंगे या जान से मार डालेंगे। दूसरा आदमी साथ रहने से वे इन बातों से बच जायँगे। या तो प्रेत महाशय उसी दूसरे आदमी को चिपटेंगे या फिर नाक-दुम दबा कर भागेंगे। इस मूर्खता का भी कुछ ठिकाना है ? परन्तु वे बेचारे करें क्या, उनके बचपन से ही ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं; वे दूर कैसे हो सकते हैं ? ऐसे लोगों को तो निर्जन तथा अँधेरे स्थान में चारों ओर प्रेत ही प्रेत दिखाई पड़ते हैं। अब बताइए, ऐसे लोग क्या तीर मार सकते हैं—वीरता का कौन काम कर सकते हैं। हाँ, यदि उनके साथ एक आदमी ऐसा रहे जो उन्हें प्रेतों से बचाता रहे तो चाहे भले ही वह कोई वीरता का काम कर दिखाएँ। पाश्चात्य देशों के लोगों को देखिए कि वह अकेले ही अफ़्रीका के निर्जन जङ्गलों में पड़े रहते हैं, जहाँ और जिस समय चाहते हैं, अकेले चले जाते हैं; इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि बाल्यावस्था में उनके संस्कार ऐसे नहीं डाले गए कि वे भूत-प्रेतों में विश्वास करें और उनसे डरें।

यह दशा तो पहले ही से है। अब यदि कहीं यह विश्वास भी हो जाय कि अनेक रोगों में भी प्रेत महाशय ही की शरारत होती है, तो चलिए छुट्टी हो गई !

घर में किसी को ज्वर आया—बस, अब डॉक्टर-वैद्य के पास न जाकर पहले यह पता लगाइए कि यह किस प्रेत या चुड़ैल की कारगुज़ारी है। यह पता लगना सरल नहीं है, क्योंकि प्रेतराम सहज ही में अपने को प्रकट नहीं कर देते। ऐसी दशा में रोगी बेचारा तो मरा। रोगी तो मर रहा है और घर वाले प्रेत को ढूँढ़ते फिर रहे हैं—खूब! अब यदि प्रेतात्मवादियों के सिद्धान्तानुसार प्रेत का पता लग गया, तो अब उसको भगाने अथवा जलवाने-फुँकवाने का इन्तज़ाम होना चाहिए। यदि घर में दो-तीन आदमी एकदम से बीमार हो जायँ, तो जितने आदमी बीमार हों उतने ही प्रेतों की हुलिया जारी कराई जाय—क्योंकि ऐसा सुनने में नहीं आया है कि अनेक व्यक्तियों को एक समय में एक ही प्रेत पीड़ित करता हो। यदि चार आदमी बीमार हैं तो चार ही प्रेत होंगे। चार-चार प्रेतों का पता लगाना साधारण बात नहीं है। एक ही कमबख़्त बड़ी मुश्किल से ढूँढ़े मिलता है—चार-चार को ढूँढ़ना तो बहुत ही कठिन है। ऐसी दशा में रोगियों के प्राण तो दो ही तरह से बच सकते हैं। या तो ईश्वर स्वयं प्रेतों को समझा-बुझा कर या डरा-धमका कर हटावे या फिर प्रेत महाशय ही ऊब कर भाग जावे। सो प्रेत महाशय तो ऊबते हुए कम सुने गए हैं—उन्हे तो दूसरों को पीड़ा देने में ही आनन्द आता है। अतएव केवल ईश्वर का भरोसा रह जाता है। यद्यपि यह

कहा जाता है कि ऐसे लोग हैं जो प्रेतों को क़ैद कर लेते हैं, और दस-पाँच वर्ष अथवा जन्म भर के लिए उन्हें कारावास-दण्ड देते हैं या फाँसी का हुक्म सुना देते हैं और उनके फ़ैसले की कोई प्रेत अपील नहीं कर सकता—जो मनुष्य के लिए बड़े सन्तोष की बात है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी यह बात सर्वमान्य है कि प्रेत अधिक हैं और प्रेतों को दण्ड देने वाले कम। प्रेतों के इन न्यायाधीशों की संख्या इतनी अल्प है कि जैसे दाल में नमक होता है। ऐसी दशा में प्रेतों का उत्पात कम कैसे हो सकता है, जब कि मनुष्यों का यह हाल है कि प्रत्येक स्थान में अपराधियों को दण्ड देने वालों के प्रस्तुत होते हुए भी वे अपराध करते ही हैं ऐसी दशा में मनुष्यों का सहायक केवल ईश्वर ही रह जाता है।

हाँ, यदि प्रेतात्म-विद्या-विशारद प्रेतों को पकड़ने के लिए बाक़ायदा पुलिस, .खुफिया-पुलिस, अदालतें, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सरलतापूर्वक किसी भी प्रेत पर नालिश कर कर सके, और प्रेतों के लिए दण्ड-विधान इत्यादि का प्रबन्ध कर दें तब तो मनुष्य की रक्षा इन प्रेतों से हो सकती है। परन्तु उस दशा में एक बड़ी खराबी यह होगी कि वहाँ भी हम लोगों को मुक़दमेबाज़ी का चस्का पड़ सकता है। उदाहरणार्थ श्याम की शत्रुता राम से है। श्याम ने सोचा कि राम का तो मैं कुछ बिगाड़ नहीं सकता—चलो राम के

स्वर्गीय पिता के ख़िलाफ एक झूठी नालिश दायर कर दो और उनकी छीछालेदर कर दो। इधर राम को जो यह पता लगा तो वह अपने पिता की ओर से पैरवी करने लगा—चलिए मुकदमेबाजी आरम्भ हो गई। परन्तु उस दशा में इतनी बात अच्छी रहेगी कि दोनों पक्षों को अपनी-अपनी बात कहने का अवसर दिया जायगा। यदि ऐसा हो जाय तब तो कदाचित् प्रेतों से बचत हो सकती है—यद्यपि मुझे इसमें सन्देह है। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो फिर प्रेतात्म-वादियों का यह प्रचार कि प्रेतात्माएँ पीड़ा देती हैं, बड़ा ही खतरनाक है। इससे व्यर्थ लोगो के हृदय में भय का सञ्चार होता है। एक तो हम लोगों में देवी-देवताओं के मारे ही नाक में दम रहता है। पूजते-पूजते आयु खतम हो जाती है, फिर भी पता नहीं चलता कि कौन देवता सच्चा है और कौन झूठा। उस पर यदि प्रेत भी लाद दिए गए तो बस फिर बेड़ा पार है! आज मङ्गल-ग्रह का कोप है, कल राहु डाह रहे हैं, परसों अमुकेश्वर रुष्ट हो गए—अभी तो इसी से छुट्टी नहीं थी, अब प्रेतों के नख़रे भी उठाने पड़ेंगे। रहे डॉक्टर-वैद्य, सो वे केवल पशुओं की चिकित्सा करके अपना पेट पालेंगे; क्योंकि प्रेत लोग पशुओं को नहीं सतावेंगे। यदि किसी का कुत्ता-बिल्ली बीमार हो, तब तो डॉक्टर-वैद्य बुलाए आयँ, अन्यथा वही प्रेत और पिशाच-पुरोहितों की पूछ हो।

इस सम्बन्ध में मैंने एक व्यक्ति से प्रश्न किया।

वह बैसवारे के रहने वाले हैं। मैंने उनसे पूछा—आप प्रेत को मानते हैं ?

उन्होंने कहा—प्रेत ! प्रेत को क्यों मानें, वह हमारा कोई रिश्तेदार लगता है ?

"नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है, मेरा मतलब यह है कि आप उसके अस्तित्व में विश्वास करते हैं ?"

"हमें तो आज तक कोई भूत-प्रेत ससुरा मिला नहीं—हाँ सुनते हैं कि होते हैं। हमारी तो यह इच्छा है कि एक बार कहीं दर्शन हो जायँ, पर मिलते ही नहीं, न मालूम साले कहाँ चले गए। बड़े-बूढ़े लोग कहते हैं कि जब रेल नहीं चली थी तब थे, जब से रेल चली तब से लापता हो गए।"

मैंने पूछा—क्यों, क्या रेल में भर-भर कर किसी टापू में भेज दिए गए ?

"नहीं, यह बात नहीं, रेल के चलने में जो शब्द होता है उससे भाग गए। दूसरे रेल में आग भी रहती है—आग से भी प्रेत बहुत डरते हैं।"

"ओहो ! यह नई बात मालूम हुई। तब तो रेल से बड़ा लाभ हुआ।"

"हमारा तो नुक़सान हो गया। हमारी तो इच्छा थी कि जरा दर्शन कर लेते।"

"महाशय जी, जिस प्रकार ईश्वर के दर्शन दुर्लभ हैं,

उसी प्रकार प्रेतों के दर्शन भी दुर्लभ हैं—समझे! जो बड़े ज्ञानी तपस्वी होते हैं, प्रेत उन्ही को दर्शन देते हैं, उन्हीं से बातचीत करते हैं और उन्हीं के घर में आते हैं। रही-खही, बेपढ़े-लिखे और अज्ञानी आदमियों को प्रेत दर्शन नहीं देते—उन्हें देख कर भागते हैं, समझे! हाँ, यह तो बताइए आप यह मानते हैं कि प्रेत मनुष्यों को पीड़ा दे सकते हैं?"

"कौन प्रेत? उनकी ऐसी-तैसी, वे वेचारे क्या पीड़ा देंगे। जो देह धारण करके कुछ न कर सका, वह मरने पर क्या कर सकता है? यह सब ढोंग है। न जाने रोज़ कितने खून और हत्याएँ होती हैं—तो जनाब यदि प्रेतों में पीड़ा देने की सामर्थ्य होती तो जिसकी हत्या की गई वह प्रेत बन कर हत्यारे को रगड़ देता। परन्तु ऐसा नहीं होता—हत्यारों को यदि पुलिस न पकड़े तो वह आनन्द किया करे। तब जो अपनी हत्या करने वाले का कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता, वह दूसरे का क्या बिगाड़ सकता है?"

मैंने कहा—मित्र, कहते तो पते की हो। हमने भी आज तक ऐसा न देखा न सुना।

वह महाशय बोले—मुदा भइया एक बात है। रात में कहीं अँधेरे मे जो अकेले जाते हैं, तो रोएँ खड़े होने लगते हैं।

"अच्छा! यह बात भी है?"

"हाँ!"

"क्यों?"

"लड़कपन में सब लोग भूत-भूत कह कर डराया करते थे, सो उसी कारण कभी-कभी ध्यान आ जाता है कि शायद भूत होते हों।"

उनकी यह बात सुन कर मुझे बड़ा खेद हुआ। मैंने सोचा—देखिए, यह स्वयम् तो इतने साहसी हैं कि प्रेत के दर्शनों के लालायित हैं, परन्तु बाल्यकाल के संस्कार हृदय में भय उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं।

सम्पादक जी! बाल्यकाल के संस्कारों का तो यह हाल है कि बुढ़ापे तक पिण्ड नहीं छोड़ते। अब जो जवानी में यह संस्कार पड़ गए कि प्रत्येक बात में प्रेतों की झलक देखने लगें तो बस, फिर क्या कहना है। पूरे तीसमार खाँ हो जायँ।

ईश्वर इन बातों से बचावे। यदि प्रेत हैं तो और नहीं हैं तो—हमारी बला से! हमारा वह कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। इसी सिद्धान्त में हम लोगों का कल्याण है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आज एक नई बात आपको बताता हूँ। आप होने को तो सम्पादक हो बैठे, पर अभी आपको भी वह बात न मालूम होगी जो मैं आपको आगे बताने वाला हूँ। सुनिए—आजकल खद्दर की आड़ में भी बड़े-बड़े सिद्ध लोग छिपे हुए हैं। जिस प्रकार गेरुआ-वस्त्र संसार से विरक्त होने के सूचक हैं, वैसे ही खद्दर भी देश-भक्ति और देश-सेवा का सूचक है। इसलिए इसकी आड़ में भी लोगों को ख़ूब शिकार खेलने का मौक़ा मिलता है। मैं आपको एक अपना निज का अनुभव सुनाता हूँ। पन्द्रह रोज़ हुए, मैं एक कार्यवश बाहर गया था। रास्ते में एक खद्दरपोश से मुलाक़ात हुई। रेल के जिस डब्बे में मैं बैठा था उसी में वह हज़रत भी तशरीफ रखते थे। उनकी सूरत देखते ही मेरे हृदय में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। नीचे से ऊपर तक खद्दर—और खद्दर कैसा, बिलकुल टाट। जान पड़ता था उन महोदय ने केवल अपने हाथों से ही नहीं—पैरों से भी उसका सूत काता था। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं, सम्भव

है किसी चर्खा-दङ्गल में उन्होंने पैरों से सूत कात कर दिखाया हो—और क्या, अपना-अपना कमाल है! उनकी सूरत ऐसी थी कि मालूम होता था कि बेचारे बीस से अधिक गिनती न जानते होंगे—जब कभी सौ रुपए या कोई और चीज़ गिनने की आवश्यकता पड़ती होगी तो पाँच बीसी गिन कर हिसाब लगा लेते होंगे। सीधे ऐसे मालूम पड़ते थे कि यदि उनके एक गाल पर कोई थप्पड़ मारता होगा तो तुरन्त ही टोपी उतार कर सिर झुका देते होंगे।

डब्बे में भीड़ बहुत थी; परन्तु मैं किसी न किसी प्रकार घुस-पिल कर उन्हीं महोदय की बग़ल में जा बैठा और पसीना पोंछते हुए बोला—'ये साले रेल वाले न कुछ देखते हैं न भालते हैं, दनादन......।' मैं इतना ही कह पाया था कि उन्होंने मेरी ओर देख कर बड़ी नम्रतापूर्वक कहा—महोदय, आप क्यों किसी के सम्बन्ध में ऐसे अपशब्द निकालते हैं? इससे उसकी कुछ भी हानि नहीं होती, आप ही का मुँह गन्दा होता है।

उनकी यह बात सुनते ही मैंने तुरन्त खँखार कर खिड़की के बाहर थूक दिया और इस प्रकार गन्दे मुँह को शुद्ध करके बोला—क्या करें महोदय, जब जी जल जाता है तब ऐसी ही बातें मुँह से निकलती हैं। अब आप ही देखिए, इस डब्बे में आप लोग भेड़-बकरियों की तरह पहले से ही भरे थे, अब जो मेरा सा कोई भला आदमी आना चाहे तो कैसे

आवे ? इन रेल वालों को उचित था कि ऐसी दशा में आप लोगों को घुसने न देते, बल्कि टिकट ही न देते। अगर आप लोग अधिक गड़बड़ करते तो गर्दन में हाथ देकर बाहर कर देते।

खद्दरधारी महोदय पुनः बोले। उनकी बोली की मैं क्या प्रशंसा करूँ, वाक़ई ख़ूब बोलते थे। बस ऐसा मालूम पड़ता था कि मुँह से गूलर के फूल झड़ रहे हैं। हाँ, तो वह बोले—अजी, दुनिया के काम ऐसे ही चलते हैं। हर एक आदमी बैठने की कोशिश करता है। किसे-किसे रोकें। आप ही अपनी तरफ़ देखिए।

मैंने तुरन्त कहा—अगर आपके पास कोई आईना हो तो एक मिनिट के लिए दे दीजिए।

वह विस्मित होकर बोले—क्यों, आईना क्या कीजिएगा ?

मैंने कहा—अपनी तरफ देखूँगा।

इतना सुनते ही वह हँस पड़े। अहा, उनकी हँसी क्या थी—सिर्फ आँसू बहने की कसर थी। इतनी करुणापूर्ण हँसी मैंने आज तक कभी नहीं देखी। तारीफ यह थी कि आदमी यह नहीं समझ सकता था कि वह हँसते हैं या रोते हैं—यह भी एक कमाल था। उन्होंने कहा—मेरा यह मतलब नहीं था, मेरा मतलब यह था कि आप यह देखते हुए भी कि इस डब्बे मे जगह नही है—घुस ही आए।

मैंने कहा—जनाब, स्टेशन पर आकर घण्टे आध घण्टे

रेल में बैठे बिना घर लौट जाना अव्वल दर्जे की बेवक़ूफ़ी है। हाँ, अगर रेल वाले मेरे घर पर कहला भेजते कि रेल में जगह नहीं है तो मैं घर ही से न चलता। जब यह हालत थी तो उन्हें ऐसा ज़रूर करना चाहिए था। ख़ैर, इस बात को जाने ही दीजिए। अब यह बताइए—देश की आजकल क्या दशा है?

देश का नाम सुनते ही उन महोदय के न जाने कहाँ से एक ठण्ढी साँस निकली—बोले देश की दशा न पूछिए।

मैंने पूछा—क्यों, क्या सरकार ने देश की दशा पूछने वाले पर भी कोई दफ़ा लगा रक्खी है?

उन्होंने पुनः वही करुणापूर्ण हँसी हस कर कहा—आप तो मज़ाक़ करते हैं।

उनकी यह बात मुझे बड़ी बुरी लगी। जी तो चाहा कि कह दूँ—आप कौन बड़े ख़ूबसूरत हैं जो मैं आपसे मज़ाक़ करूँगा। मगर फिर मैंने कुछ सोच कर शिष्टता के नाते यह बात न कह कर केवल इतना कहा—सुनिए साहब, मैं मज़ाक़ कभी नहीं करता, हाँ अलबत्ता लल्ला की महतारी से कभी-कभी मज़ाक़ कर बैठता हूँ।

उन्होंने पूछा—क्यों साहब, यह लल्ला की महतारी कौन है?

मैंने कहा—लल्ला की महतारी लल्ला की अम्माँ है। ख़ैर, आपको न लल्ला से मतलब, न उसकी अम्माँ से, आप यह बताइए कि आजकल देश में क्या हो रहा है?

उन्होंने कहा—देश की दशा बुरी है खद्दर पहनते-पहनते बदन छिल गया, पर अभी तक स्वराज्य नहीं मिला। पहले मैं बड़ा हृष्ट-पुष्ट था; जब से खद्दर पहनने लगा, आधा रह गया।

मैंने कहा—आप बड़े त्यागी हैं, देश के लिए अपना शरीर खद्दर की भेंट किए दे रहे हैं।

उन्होंने कहा—यही तो बात है, न मालूम ईश्वर को क्या मञ्जूर है।

मुझे उन महोदय पर बड़ी श्रद्धा हुई। उनकी बातों से प्रतीत होता था कि देश के उद्धार की जितनी चिन्ता इन्हे है, उतनी कदाचित् महात्मा गाँधी को भी न होगी। मैंने झट जेब से एक दस रुपए का नोट निकाला, उसे भुना कर कुछ फल खरीदे और उन महोदय की भेंट किए। उन्होंने दो-एक बार सिर-हाथ हिला कर फल ले लिए। मैंने बाक़ी रुपए बग़ल की जेब में डाल लिए।

उन्होंने एक सन्तरा छीलते हुए कहा—मैं अन्न बहुत कम खाता हूँ। अधिकतर फल ही खाता हूँ। अन्न खाऊँ भी तो किस समय। रात-दिन सफ़र मे रहता हूँ—कहीं व्याख्यान देता हूँ, कहीं लेख लिखता हूँ।

मैंने कहा—आप बड़े महान् व्यक्ति हैं। इस समय आप कहाँ जा रहे हैं?

उन्होंने कहा—यही तो बात है। मेरा कोई ठीक नहीं।

अभी कहिए अगले ही स्टेशन पर उतर पड़ूँ, कहिए सीधे जहाँ तक यह रेल जाती है, वहाँ तक चला जाऊँ। कुछ निश्चित नहीं कि कहाँ उतर पड़ूँ।

मुझे उनकी यह बात सुन कर कुछ भय हुआ कि जब यह दशा है तो कहीं यह चलती गाड़ी से न कूद पड़ें—और धरा मैं जाऊँ। पुलिस कहे कि इन्होंने ही ढकेल दिया होगा।

मैंने कहा—महोदय, जहाँ कहीं उतरने या कूदने-फाँदने की आवश्यकता पड़े, कृपया पहले मुझे सूचना दे दीजिएगा।

यह सुनते ही उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा, तत्पश्चात् चुपचाप दूसरी ओर मुँह करके बैठ गए। मैं भी यह समझ कर कि 'यह आदमी खतरनाक है'—चुपचाप बैठ रहा। अगले स्टेशन पर वह महोदय उतर गए। चलते समय उन्होंने मेरे तरफ़ फिर कर भी न देखा। मैं भी न बोला। थोड़ी दूर चल कर मुझे कुछ पैसों की आवश्यकता पड़ी। जेब में हाथ डाला तो नदारद। नोट में से नौ रुपए चार आने बचे थे, वह सब ग़ायब हो गए। मैं समझ गया कि यह किसका काम था।

सम्पादक जी, मैं आपको परामर्श देता हूँ कि अपरिचित खद्दरपोशों से ख़ूब सावधान रहिएगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

१६

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आप अपने मन में कहेंगे कि दुबे जी महाराज प्रत्येक मास एक न एक नया स्वाँग लाते हैं। परन्तु सम्पादक जी, मैं क्या करूँ ? जब लोगों को हिमाक़त की बातें करते देखता हूँ तो जी नहीं मानता। हमारे मुहल्ले में एक महाशय रहते हैं, (वह वृद्ध सज्जन नहीं, जिनके सम्बन्ध में मैं अपनी पिछली चिट्ठियों मे लिख चुका हूँ) यह महाशय परले सिरे के दुर्बल-विश्वासी हैं। एक दिन का ज़िक्र सुनिए ! आप कहीं बाहर जा रहे थे। असबाब ताँगे पर लद चुका था। घर से टीका लगवा कर और दही-लड्डू खाकर बाहर निकले और ज्योंही ताँगे पर पैर रक्खा, त्योंही किसी ने तड़ से छींका। बस फिर क्या था, तुरन्त लौट पड़े और घर के अन्दर घुस गए।

पत्नी ने कहा—जूता बदल कर पहन लो।

वह झल्ला कर बोले—यह देशी जूता थोड़ा ही है जो बदल लूँ, यह शू है शू, यह बदल कर नहीं पहना जा सकता।

पत्नी ने कहा—अच्छा एक गिलास पानी पी लो।

अतएव वह बिना प्यास के एक गिलास ठण्डा पानी पीकर पुनः निकले। द्वार पर आए ही थे कि घर की बिल्ली आगे से रास्ता काट कर निकल गई। अब क्या था—बहुत ही बिगड़े, बोले—इसीलिए मैं मना करता था कि बिल्ली न पालो। यह ऐसा पाजी जानवर है कि जब कहीं बाहर जाओ तो रास्ता अवश्य काटेगा। ऐसे मनहूस जानवर का पालना किस काम का। यह कहते हुए फिर दरबे के अन्दर हो गए।

पत्नी ने कहा—"सौ दफे राम का नाम जप लो; बिल्ली के रास्ते काटने का प्रभाव जाता रहेगा।" अतएव आप राम-नाम जपने लगे। उधर बाहर से ताँगे वाला चिल्लाया, "बाबू जी, चलिए! ताँगा कब तक खड़ा रहे।"

बाबू जी ने उत्तर दिया—"आते हैं।" परन्तु इन दो शब्दों के कहने में यह भूल गए कि राम-नाम कितने बार जपा। पत्नी से बोले—"इस ससुरे ताँगे वाले ने भुला दिया—न जाने कितने बार जपा था। अब फिर से जपना पड़ा।" अतएव आपने फिर एक से शुरू किया। खैर, किसी न किसी प्रकार सौ की गिनती समाप्त करके उठे और "श्रीगणेश जी सदा सहाय" कह कर फिर बाहर निकले। इधर पण्डित जी की यह दशा देख कर यार लोगों को दिल्लगी सूझी। ज्योंही उन्होंने देहलीज के बाहर पैर रक्खा, त्योंही एक ने "आक् छीं" के साथ दोनली का फ़ायर किया।

बस फिर क्या था—पण्डित जी आग ही तो हो गए, कड़क कर बोले—"अब मुहल्ले भर को आज ही जुकाम होगा—आज ही सब मरेंगे। यहाँ खड़े क्या देखते हो, कोई नाच हो रहा है ? देख रहे हो कि एक आदमी बाहर परदेश जा रहा है, फिर भी सामने खड़े होकर ऐन नाक के सामने छींकते हो। अच्छा, अब नहीं जायँगे, चाहे जो हो। तुम लोग आज खूब जी भर के छींक लो।"

इधर पण्डित जी बक रहे थे, उधर भीतर पण्डिताइन कह रही थीं—राम करे छींकने वाले की नाक में कोढ़ टपके। दूसरे का असगुन मनाते हैं। वाह ! अच्छे आए। अपने घर में बैठ के चाहे छींकें चाहे पादें। हमारे दरवाज़े काहे छींकते हैं।

पण्डित जी फिर लौट पड़े। पत्नी से बोले—"अब क्या करें—क्या न जायँ ? काम बड़ा ही जरूरी था। अच्छा, "शास्त्र में लिखा है कि सोलह श्वास ले लेने से छींक का दोष जाता रहता है।" यह कह कर आपने श्वासें गिननी आरम्भ कीं।

इधर द्वार पर जो दो-एक दिल्लगीबाज़ खड़े थे, उन्होंने एक कौतुक और रचा। मुहल्ले का एक आदमी जो काना था—उधर से कहीं जा रहा था। एक ने उसे बातों में लगा कर वहीं खड़ा कर लिया।

पण्डित जी ज्योंही पुनः द्वार पर आए, त्योंही एक ने

उस काने से कहा—"पण्डित जी आगए, अभी तुम्हें पूछ रहे थे।" यह कह कर वह तो हट कर दूर जा खड़ा हुआ। वह काना पण्डित जी के सामने पहुँच कर बोला—क्या हुकुम है पण्डित जी!

पण्डित जी ने जो उनकी सूरत देखी तो हाथ-पैर ढीले हो गए। पहले तो कुछ क्षणों तक हक्का-बक्का होकर उसका मुँह ताकते रहे, तत्पश्चात् एकदम से मुख लाल हो गया। दाँत पीस कर बोले—क्यों बे हरामज़ादे, तुझे भी इसी समय आना था? जी चाहता है कि दूसरी भी फोड़ दूँ—झगड़ा मिटे।

काना बोला—पण्डित जी, मुझसे एक आदमी ने कहा कि पण्डित जी तुम्हें पूछ रहे थे।

पण्डित जी बोले—हाँ, तुम बड़े खूबसूरत हो न, जो तुम्हें पूछ रहा था। और मुहल्ले वाले तो बदमाश, लुच्चे, उन्हें किसी के हानि-लाभ से क्या मतलब? दिल्लगीबाजी में पड़े हैं। अच्छी बात है—अब मैं यह मुहल्ला ही छोड़ दूँगा, बस ताँगे वाले, उतार दे असबाब, अब नहीं जायँगे!

ताँगे वाला बोला—तो मेरी मजूरी तो लाइए!

पण्डित जी—मजूरी? मजूरी कैसी?

ताँगे वाला—इतनी देर से खड़ा हूँ—इतनी देर में तो मैं एक रुपया पैदा करता। वाह, अच्छे आए—कोस भर से बुला के लाए, घण्टा भर खड़ा रक्खा, अब कहते हैं अस-

बाब उतार दो। मुझे क्या, आप चाहे जाइए चाहे न जाइए, मेरी मजूरी दे दीजिए !

पण्डित जी—तो क्या मुफ्त की मजूरी लेगा ?

ताँगे वाला—घण्टा भर से खड़ा नहीं हूँ—मुफ्त की काहे को। आप तो छींक-पाद के फेर में रह गए, मैं ग़रीब मर मिटा।

पण्डित जी—तो तेरे वास्ते हम अपना सगुन-असगुन न देखें। रास्ते में कुछ गड़बड़ होजाय तो तू काम आएगा।

इस प्रकार पण्डित जी और ताँगे वाले में झायँ-झायँ होने लगी। अन्त में दो-चार आदमी बीच में पड़े और चार आने में फ़ैसला करा दिया। बोले—यह बेचारा ग़रीब आदमी इतनी देर से खड़ा है—इसे कुछ तो दीजिए ही।

पण्डित जी बोले—यह अच्छी रही, हमारा इतना बड़ा नुक़सान हुआ—ज़रूरी काम था, नहीं जा सके—ऊपर से चार आने की यह चपत पड़ी। न जाने आज किस ससुरे का मुँह देख कर उठे थे। ताँगे वाला असबाब उतार कर और चार आने लेकर चल दिया।

पण्डित जी ने उस दिन क्रोध के मारे भोजन नहीं किया। मुझसे दूसरे दिन भेंट हुई। मैंने पूछा—यह कल क्या मामला हुआ ?

पण्डित जी बोले—मामला जो कुछ हुआ अच्छा हुआ; मैं यह मुहल्ला ही छोड़े दे रहा हूँ।

मैंने कहा—आप इतने दुर्बल-विश्वासी हैं, यह मुझे नहीं मालूम था।

पण्डित जी बोले—क्यों? शास्त्र के अनुसार कार्य करना दुर्बल-विश्वास है? आप तो हैं नास्तिक, कुछ मानते-वानते नहीं। हम सनातनधर्मी और कर्मकाण्डी ब्राह्मण ठहरे, हमें तो मानना पड़ता है।

मैंने पूछा—यदि आप कल चले जाते तो क्या होता?

पण्डित जी—होता कुछ ज़रूर, चाहे जो होता। सम्भव है, रेल ही लड़ जाती।

मैं—रेल तो कहीं लड़ी नहीं।

पण्डित जी—मैं नहीं गया, इससे नहीं लड़ी। रेल न लड़ती तो और कुछ उपद्रव हो जाता—होता कुछ ज़रूर! कुछ ठिकाना है—चार-चार अपशकुन—दो दफ़े छींक हुई, एक दफ़े बिल्ली रास्ता काट गई। ख़ैर, यह सब हुआ था, कोई चिन्ता नहीं, हमने उसका उपचार कर लिया। परन्तु अन्त समय वह साला काना सामने आ खड़ा हुआ, इसका कोई उपचार तो शास्त्र में है नहीं, क्या करता, नहीं गया!

काना विप्र मिले मग माहीं।

प्राण जायँ कछु संशय नाहीं॥

मैं—तब तो आपने बड़ा पुण्य कमाया। यदि आप जाते तो रेल तो लड़ती केवल आपकी हत्या करने को, अन्य लोग मुफ़्त में मरते।

पण्डित जी सिर हिला कर बोले—हाँ, बात तो ऐसी ही थी

मैं—शास्त्र भी क्या चीज़ है—शास्त्र की बदौलत आप स्वयम् भी बच गए और दूसरों को भी बचा लिया। यदि शास्त्र न जानते होते तो काहे को बचते—क्यों न ?

पण्डित जी—अब आप राह पर आए। शास्त्र की बड़ी माहमा है। ज्योतिषी लोग दैवज्ञ क्यों कहलाते हैं ? इसीलिए कि उन्हें भूत, वर्त्तमान, भविष्य तीनों काल का ज्ञान रहता है।

मैं—तो आपको भी तीनों काल का ज्ञान रहता होगा ?

पण्डित—हाँ, रहता क्यों नहीं—रहे न तो काम कैसे चले ? ज्ञान न होता तो कल चले न जाते ? यदि कल चले जाते तो बस × × ×।

मैं—सब समाप्त हो जाता ?

पण्डित—और क्या ! इन सब बातों का विचार रखना चाहिए। पहले हम दो-तीन बरस × × × मुहल्ले में रहे। वहाँ की दशा क्या बताऊँ। उस मुहल्ले में पाँच-छः काने हैं। घर से किसी समय निकलो, एक न एक काना सामने खड़ा है। नाक में दम हो गया। क्या कहें दुबे जी, जब कभी कहीं आवश्यक कार्य से जाना हो तो पहले दो आदमी दोनों नाकों पर खड़े कर देते थे कि कोई काना हो तो उसे युक्ति से हटा दें। फिर भी अधिकतर मिल ही जाते थे।

अन्त में जब बहुत तङ्ग हो गए तो वह मुहल्ला छोड़ दिया।

मैं—ओफ ओह! तब तो इन कानों का एक अलग मुहल्ला बसाना चाहिए।

पण्डित—हाँ, है तो ऐसा ही।

मैंने पण्डित जी से अधिक वाद-विवाद करना उचित न समझा; क्योंकि वह ठहरे कुत्ते की दुम, जो कभी सीधी होती ही नहीं। सो सम्पादक जी, यह दशा है। जिस जाति में ऐसे लोग हों, उससे क्या आशा रक्खी जा सकती है?

ऐसे-ऐसे लोग हैं जो घर से बाहर जाते समय ऐसा रूप बनाते हैं कि मानो कालेपानी जा रहे हों। तीन-तीन, चार-चार दिन पहले से सायत-मुहूर्त्त देखा जाता है। ऐसों के लिए सप्ताह में एकाध ही दिन ऐसा निकलता है जिस दिन श्रीमान् कहीं परदेश की यात्रा कर सकते हैं, अन्यथा आज दिशा-शूल है, आज नक्षत्र ठीक नहीं, आज बाएँ, चन्द्रमा है, आज भद्रा है, इसी फेर में रहते हैं। जिस समय घर से निकलते है तो ऐसा प्रबन्ध रहता है कि मानो वायसराय की सवारी निकल रही है। कोई आदमी नङ्गे सिर सामने न आए।

किसी को नङ्गे सिर देखा तो ललकारा, हटो सामने से, या सिर ढक लो—जानते नहीं, फलाने जा रहे हैं? यह औरत जो खाली डोल लिए खड़ी है, इसे कहो, सामने से

हट जाय—या डोल में पानी भर ले। इस बिल्ली को मारो, रास्ते मे खड़ी है—ऐसा न हो कि रास्ता काट जाय। यदि घटनावश किसी ने टोक दिया—"कहिए माहराज, कहाँ चले ?" ऐ है ! बस ग़ज़ब हो गया। बरस पड़े—"आप भी अजीब आदमी हैं, इतने बड़े हो गए, पर तमीज न आई। सरासर देख रहे हो कि काम से जा रहे हैं, फिर भी टोक दिया ! वाह साहब, वाह।" जो किसी ने इस पर प्रश्न कर दिया कि—"क्यों जनाब, टोकने से क्या हो गया ?" तो और भी बिगड़े। बोले—"आप तो अङ्गरेज़ी पढ़ कर नास्तिक हो गए, आप इन बातों को क्या समझ सकते है।"

प्रातःकाल उठ कर यदि कहीं हाथी और बन्दर का नाम ले लीजिए तो आफत हो जाय। ये दोनों ऐसे प्राणी ईश्वर ने उत्पन्न किए हैं कि प्रातःकाल उठ कर इनका नाम ले लिया जाय तो कोई न कोई अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है !

सम्पादक जी, ऐसी-ऐसी मूर्खताएँ हम लोगों में भरी पड़ी हैं कि उनका वर्णन करते हुए लज्जा मालूम होती है।

ईश्वर हम लोगों को इतनी बुद्धि दे कि हम लोग इन मूर्खताओं से अपनी रक्षा करें।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की!

आजकल मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, अर्द्धसाप्ताहिक, दैनिक इत्यादि-इत्यादि पत्रों में वृन्दावन-कवि-सम्मेलन की धूम मची हुई है। वैसे तो कवि-सम्मेलन अच्छा रहा। कवियों का जमाव रहा, खूब कविताएँ पढ़ी गईं, परन्तु वही कहावत है कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा करती है। सो भाई साहब, एक बेहूदे कवि ने सारे कवि-सम्मेलन का मज़ा किरकिरा कर दिया। खैर, वह तो जो कुछ हुआ सो हुआ, मगर लोग अब इस बात पर लड़े मरते हैं कि उक्त कवि की कविता अश्लील थी या श्लील। कवि-सम्मेलन के सभापति गला फाड़-फाड़ कर यह कह रहे हैं कि भाइयो वह कविता अश्लील नहीं थी, वह पूरे सोलहो आने श्लील थी, मगर फिर भी लोग उनकी बात मानने को तैयार नहीं। अब मैं किससे कहूँ कि भाइयो, जब सभापति महोदय उसे अश्लील नहीं बताते तब और किसी को क्या अधिकार है कि उसे अश्लील कहे। यदि इन भले आद-मियों को सभापति का फैसला मान्य नहीं तो फिर उन्हें

सभापति बनाया ही क्यों था। सम्पादक जी, ज़रा ग़ौर करने का मुकाम है, जब सभापति की इतनी सी बात लोग नहीं मानते तब फिर उन्हें सभापति क्यों बनाया था? यदि उसका उत्तर कोई माई का लाल दे दे तो मैं समझूँ कि हाँ वह भी कोई आदमी है। अजी जनाब, कहने और करने मे बड़ा फ़र्क़ है। सभापति बनना दिल्लगी नहीं है—जहाँ सभापति के आसन पर आदमी बैठा वहीं टाँगें थर्राने लगती हैं, कलेजा काँपने लगता है। ज़िम्मेदारी का काम ही ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त सभापति का कर्त्तव्य यह भी तो होता है कि सब को खुश रक्खे। सभापति और हाकिम का एक दर्जा है। जैसे हाकिम यह चेष्टा करता है कि अपनी सब प्रजा को खुश रक्खे वैसे सभापति को भी समझिए। अतएव यदि सभापति महोदय उक्त कवि की कविता को अश्लील नहीं समझते तो समझ लीजिए कि वह बेचारे अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं, वह नहीं चाहते कि कोई उनसे अप्रसन्न हो। इसके अतिरिक्त एक बात और भी तो है और वह यह कि लोग कहते हैं कि कविता के अश्लील होने का प्रमाण यह है कि यदि उसको सुनते ही कुछ पुरुष भी उठ कर चले जाते तो समझा जाता कि वाक़ई कविता अश्लील है। परन्तु ऐसा नहीं हुआ—पुरुष तो सब डटे ही रहे—तब फिर कविता अश्लील कैसे ठहरा दी गई? जो बात स्त्रियों के लिए

अश्लील है वहीं पुरुषों के लिए भी अश्लील है। जो चीज़ स्त्रियों के लिए विष है वही पुरुषों के लिए भी विष है और जो स्त्रियों के लिए अमृत है वही पुरुषों के लिए भी अमृत है।

इसी बात पर मुझमें और एक सज्जन में तकरार हो गई। वह कहते थे कि कविता अश्लील थी और मैं कहता था कि कविता कुछ भद्दी तो थी, परन्तु अश्लील नहीं थी। बड़ा झगड़ा हुआ। लात-जूतीतक की नौबत आ गई थी। अन्त में यह तय हुआ कि इस विषय पर एक शास्त्रार्थ किया जाय। आप जानिए अपने राम किसी से दब कर रहने वाले जीव नहीं, एक शास्त्रार्थ क्या बावन शास्त्रार्थ हों तब भी डरने वाले नहीं। शास्त्रार्थ की तिथि निश्चित हुई। परन्तु उसमें यह गड़बड़ी हो गई कि निर्णायक नियुक्त करना भूल गए। ख़ैर, शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। पहले मैंने पूछा—अश्लील की परिभाषा क्या है?

वह महोदय बोले—अश्लीलता की परिभाषा है फ़ुहश, 'आबसीन'।

मैंने कहा—आबसीन के अर्थ क्या हैं?

उन्होंने कहा—आबसीन अङ्गरेजी में अश्लील को कहते हैं।

मैंने कहा—आपने यह परिभाषा तो बताई नहीं, आपने

तो केवल उर्दू तथा अङ्गरेज़ी पर्यायवाची शब्द बता दिए। परिभाषा बताइए परिभाषा।

उन्होंने कहा—परिभाषा सुनिए—अश्लील वह है जो श्लील नहीं है।

मैंने पुनः प्रश्न किया—अश्लील किसे कहते हैं?

वह—श्लील वह है जो अश्लील नहीं है।

ख़ैर, मैंने पूछा—अच्छा, अब यह बताइए कि वह कविता अश्लील थी या श्लील।

वह बोले—अश्लील—सवा सोलह आने-अश्लील।

मैं—इसका प्रमाण?

वह—इसका प्रमाण यह कि वह श्लील नहीं है।

अब मुझे क्रोध आगया, मैंने कहा—आप तो वही मुर्गी की एक टाँग पकड़े हुए हैं, श्लील नहीं वह अश्लील, श्लील नहीं वह अश्लील, अरे साहब आख़िर अश्लील और श्लील की परिभाषा तो कीजिए, आख़िर अश्लीलता और श्लीलता है किस चिड़िया का नाम?

वह—चिड़िया का नाम किसी अपने भाई-बन्धु चिड़ी-मार से पूछिए—मैं तो साहित्यिक आदमी हूँ।

मैंने अपने जी मे कहा—अच्छे बिगड़े-दिल से पाला पड़ा, कमबख़्त न हारी मानता है न जीती। जब निर्णायक की बात पेश हुई तब ध्यान आया कि अरे! निर्णायक तो किसी को बनाया ही नहीं, फ़ैसला हो तो कैसे? इतने में एक

साहब उचक कर बीच में आ बैठे और बोले—फ़िलहाल आप लोग मुझी को निर्णायक समझ लीजिए। ख़ैर, उनसे पूछा गया कि आप बताइए अश्लीलता किसे कहते हैं ?

"जिसे सुनते ही औरत-मर्द सब भाग जायँ।"

मैंने पूछा—भाग जायँ ? कहाँ भाग जायँ ?

उन्होंने उत्तर दिया—कही भाग जायँ, पर भाग जायँ।

मैं—और जो मर्द न भागें तो ?

वह—तब कविता अश्लील नहीं है।

मैंने हँस कर कहा—तब तो मैं जीता; क्योंकि मैं भी स्वयम् यही कहता हूँ कि कविता अश्लील नहीं है।

मेरे विपक्षी बोले—मैं इस निर्णायक का फ़ैसला नहीं मानता, यह आपसे मिला हुआ है।

यह सुनते ही मुझे क्रोध आगया और एक साथ ही डण्डा सँभाल कर उठ खड़ा हुआ, मेरे उठते ही सब लोग हुर्र हो गए। शास्त्रार्थ-स्थल पर केवल मैं और मेरा डण्डा रह गया। अतएव मैं वहाँ ठहर कर क्या करता, चुपचाप अपने घर आया। सम्पादक जी, उस कविता के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ? अपनी राय अवश्य ज़ाहिर कीजिए।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

२१

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

एक दिन मैं घूमता-घामता चाँडूखाने की ओर जा निकला। वहाँ का हाल सुनिए—चाँडूखाने में चार अफीमी बैठे अफीम घोल रहे थे। इनमें से दो हिन्दू थे दो मुसलमान। अफीम घोल कर चारों ने चुस्की लगाई और जब ज़रा सुरूर गठा तो बातें होने लगी। उनमें से एक, जिनका नाम मियाँ ईदू था, यों बोले—अम्याँ सुनते हो, चीन से जङ्ग छिड़ने वाली है।

दूसरे मियाँ बकरीदी बोले—हाँ म्याँ, सुना तो हमने भी है, खुदा करे यह ख़बर ग़लत निकले।

गज्जू नामक अफीमी बोल उठा—जे तुमने क्या कही, ग़लत क्यों हो ?

बकरीदी—इसकी बड़ी भारी वजह है। अरे म्याँ, अभी तुम लोगों को दुनिया की ख़बर तो है नहीं। कुछ पढ़े-लिखे हो तो ख़बर हो। वह मसल है कि पढ़े न लिखे नाम मुहम्मद फ़ाजिल। खुदा बख्शे अब्बाजान को जो हमे कुछ शुद-बुद पढ़ा गए। वही आज काम आ रहा है। वल्ला अगर इस वक्त

जैसी समझ उस वक्त होती तो आज हम भी किसी इजलास पर डटे होते और बात-बात में डिगरी देते, किसी को जेलखाने भेजते किसी को काले पानी, किसी के बेत लगवाते और किसी को सीधे खुदागञ्ज भेज देते।

मियाँ ईदू बोले—हमारे अब्बा जान सख्त नामाकूल आदमी थे जो हमें इल्म से क़तई महरूम रक्खा। मगर हाँ, इतनी नेकी जरूर कर गए कि चिनिया बेगम (अफ़ीम) से राहो-रस्म पैदा करा गए। सिर्फ इतनी ही बात पर हम उनके हक़ में दुआएखैर किया करते हैं।

बकरीदी—अहा हा। वल्ला क्या प्यारा नाम है—चिनिया बेगम! मैं तो इस नाम का आशिक़ हूँ आशिक़! अल्लाह जानता है, कहीं इसकी रङ्गत भी सफ़ेद होती तो दुनिया मर मिटती। वह तो बदक़िस्मती से रङ्गत स्याह हो गई, इससे जरा लोग बिचकते हैं।

गञ्जू—हाँ, और जो कहीं जायक़ा मीठा होता तो—

ईदू—ओहो तो फिर क्या कहना था। फिर तो कोई लड्डू, पेड़ा, बर्फी गुलाबजामन, बताशफेनी को छूता तक नहीं। जब मीठे को तबीयत चलती, बस चिनिया बेगम ही याद आती।

बकरीदी—और क्या? दोनों मजे—मिठाई की मिठाई और सुरूर घाते में।

इतना सुनते ही शेष दोनों व्यक्ति चिल्ला उठे—वाह-

वाह ! क्या बात कही है—'सुरूर घाते में !' भई कितना प्यारा कलमा है। जी चाहता है, कहने वाले का मुँह चूम लूँ।

गज्जू—घाते का लफ्ज कुछ प्यारा होता ही है और खास कर अफीम के मामले मे !

ईदू—ऐ है, यह भी बड़ी प्यारी बात कही। वाह उस्ताद। तुम भी छिपे रुस्तम निकले। क्या कही है—घाते का लफ्ज अफीम के मामले में और भी ज्यादा प्यारा लगता है। वाह-वाह !

दूसरा हिन्दू मिट्ठू, जो अभी तक आँखें बन्द किए बैठा था, आँखें खोल कर बोला—भगवान् जाने इस वखत चीन का क्या हाल होगा।

यह सुनते ही मियाँ ईदू बोले—वल्ला खूब याद दिलाई ! (बकरीदी से) मियाँ वह चीन की जङ्ग का क्या जिक्र था ?

बकरीदी—हाँ कुछ था तो जरूर ! कुछ लड़ाई-भिड़ाई की बात थी।

गज्जू—तुम कह रहे थे कि चीन बड़ा अच्छा शहर है।

ईदू—अम्याँ यह नहीं, कुछ और बात थी। वल्ला—हाफिजा (स्मरण-शक्ति) इतना कमजोर हो गया है कि खुदा की पनाह ! कल क्या खाया था, इसकी भी खबर किसी मरदूद ही को होगी।

बकरीदी—आप कल की बात कहते हैं। अम्याँ हमें तो

इतना भी याद नहीं कि पार साल आज के दिन हम इस वक़्त क्या कर रहे थे।

गज्जू—यार, हमें अपने लड़कपन की बहुत सी बातें अब तक याद हैं। मगर आप एक महीने पहले की बात पूछें तो हर्गिज़ नहीं बता सकेंगे—हाँ, अगर साल दो साल बाद कोई पूछे तो शायद बता दें। बात जितनी ही पुरानी पड़ती जाती है उतनी ही याददास्त खुलती जाती है।

ईदू—वल्ला, यह हिसाब भी खूब है। जितनी ही बात पुरानी पड़ती जाय उतनी ही याददास्त खुलती जाय।

बकरीदी—खुदा की शान है। उसमें सब क़ुदरत है।

ईदू—बिल्कुल दुरुस्त है—उसमें सब क़ुदरत है।

गज्जू—उसकी क़ुदरत की बात पर मुझे एक बात याद आ गई—तीन-चार बरस की बात होगी। एक दिन हम अफीम पीना भूल गए। अब मज़ा देखिए कि अफीम पी नहीं, मगर सुरूर वैसा ही मौजूद! गोया अभी अफीम पी है।

बकरीदी—वाह-वाह। वाह रे तेरी क़ुदरत! वल्ला अगर बेपिए सुरूर आने लगे तो सोने की दीवारें खड़ी हो जायँ!

गज्जू—सोने की! हीरे की कहिए साहब। लाखों रुपए इस अफीम के पीछे गँवा दिए। कुछ ठिकाना है? अच्छा अ मज़ा देखिए कि हम ज्योंही बाहर जाने लगे तो हमारी घर वाली बोली—आज तुमने अफीम नहीं पी—क्या

बात है, क्या छोड़ दी ? ऐ है—बस इतना सुनना था कि सारा नशा हिरन हो गया—जम्हाइयाँ आने लगीं। जब जम्हाइयों की डाक लग गई तब हमे याद आया कि अफीम नहीं पी।

ईदू—मगर आपकी घर वाली भी बड़ी नामाक़ूल थी ऐन हत्थे पर टोक दिया। वल्ला, अगर मेरी घर वाली होती तो मुझ से जूता चल जाता। अफ़ीम के मामले में बन्दा किसी की रियायत नहीं करता।

बकरीदी—सही है, अफ़ीम के मामले में रियायत करना सख्त नादानी है।

ईदू—अजी अफीम तो दूर किनार रही, एक बार हमारी चाय में चीनी कुछ कम हो गई। आप जानिए हमें तो चाय में डबल चीनी पसन्द है। चाय पीने के बाद अगर लब न चटचटाने लगें और घण्टे भर तक मुँह मीठा न रहे तो ऐसी चीनी पर खुदा की मार।

बकरीदी—अली की फिटकार !

ईदू—बस जनाब, इस चीनी के मामले में झगड़ा हो गया।

मिट्ठू पुनः पीनक से चौंक कर बोला—क्या कहा, चीन ही के मामले में झगड़ा हो गया, आखिर झगड़ा हुआ क्यों ? चीन बेचारे ने किसी का क्या बिगाड़ा है ?

ईदू—लाहौलवलाकूवत, वह चीन वाली बात फिर भी

रह गई। अम्याँ बकरीदी, वह चीन वाला क़िस्सा तो पूरा कर दो!

बकरीदी—वल्ला खूब याद दिलाया। मियाँ, हमने सुना है कि चीन में अफीम के पहाड़ हैं।

ईदू—हमारी क़सम? अरे मज़ाक़ करते हो। वल्ला अगर कहीं ऐसा हो तो बन्दा तो कल ही चीन का टिकट कटावे। वल्ला जहाँ अफ़ीम के पहाड़ होंगे वहाँ तो बिहिश्त ही समझना चाहिए।

बकरीदी—बिलकुल सही बात है। चीन में वाक़ई अफीम के पहाड़ हैं। तभी तो लोग अफीम को चिनिया बेगम कहते हैं—अफीम चीन ही ने ईजाद की है।

गज्जू—हमने सुना है कि पहले जे जितने पहाड़ हैं सब अफ़ीम ही के थे—मगर फिर एक साधु की दुआ से पत्थर के हो गए। फिर चीन के पहाड़ क्यों अफीम ही के बने रहे, जे बात समझ में नहीं आती।

बकरीदी—यह वाक़या मुझ से सुनो। जब फकीर की बद्दुआ से सब पहाड़ पत्थर के हो गए और चीन के पहाड़ भी पत्थर के हो गए तो चीन की रियाया में ग़दर फैल गया।

ईदू—वह तो ग़दर फैला ही चाहे। बिना अफीम के अमन क़ायम ही नहीं रह सकता।

बकरीदी—बस जनाब, जब बादशाह को मालूम हुआ कि अफीम के पहाड़ पत्थर के हो गए, इस वजह से ग़दर

फैला हुआ है तो बादशाह ने इसकी वजह मालूम की कि ये पहाड़ पत्थर के क्यों हो गए। जब उसे पता लगा कि फ़क़ीर की दुआ से ऐसा हुआ है तो उसने उस फ़क़ीर की तलाश कराई।

ईदू—तलाश कराई! वाह रे मेरे शेर। ख़ुदा उसे बिहिश्त अता करे। बड़ा अच्छा आदमी था। हाँ, तो फिर क्या हुआ?

बकरीदी—बस जनाब, आदमी चारों तरफ़ दौड़ पड़े और उस फ़क़ीर को तलाश करके लाए।

ईदू—वाह-वाह! वाह-वाह!! आदमी भी बड़ा खोजू होता है। ले बताइए न जाने कहाँ-कहाँ घूमे होंगे तब वह फ़क़ीर मिला होगा।

गज्जू—आदमी सब कुछ कर सकता है। एक बार मेरी अफ़ीम की डिबिया खो गई। बस जनाब, मेरी जान निकल गई, गोया करोड़ों रुपए चले गए।

ईदू—डिबिया ख़ाली थी?

गज्जू—अजी ख़ाली होती तो कम अफ़सोस होता, मगर उसमें पूरी एक तोला अफ़ीम थी।

बकरीदी—ऐ है। तब तो वाक़ई अफ़सोस की बात थी। अच्छा फिर?

गज्जू—बस जनाब, मैंने तलास सुरू की। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते

दो घण्टे हो गए। अब मैं सोचूँ कि न जाने वह डिबिया किस भागवान हाथ पड़ी होगी।

ईदू—बिलाशक, अफ़ीम से भरी डिबिया क्या आसानी से मिल जाती है? जिसे मिले वह बड़ा खुशनसीब है। हाँ फिर?

गज्जू—बस साहब दो घण्टे बाद कोठरी में सन्दूक़ के नीचे मिली—चूहे घसीट ले गए थे।

बकरीदी—चूहे अफ़ीम के बड़े शायक़ (प्रेमी) होते हैं। निगाह पड़ भर जाय, बस फिर ले ही जायँगे, छोड़ेंगे नहीं।

मिट्ठू पीनक से चौंक कर बोला—छोड़ें क्यों? जहाँ पहाड़ खड़े हैं वहाँ क्यों छोड़ें? कुछ घाटा हुआ जाता है?

ईदू—वल्लाह खूब याद दिलाई। हाँ मियाँ बकरीदी, फिर क्या हुआ?

बकरीदी—काहे का क्या हुआ?

ईदू—अरे वही तुम जो कह रहे थे?

बकरीदी—क्या?

ईदू—अरे वही फ़कीर वाली बात!

बकरीदी—हाँ वह! हाँ तो जनाब—मैं कहाँ तक कह गया था?

ईदू—वही बादशाह फक़ीर को ढूँढ़ने निकला!

बकरीदी—हाँ जनाब, बादशाह फक़ीर को ढूँढ़ने निकला। बस जनाब बादशाह चलते-चलते एक बयाबान जङ्गल में

पहुँचा। ऐसा जङ्गल जहाँ आदमी न आदम-ज़ाद—फ़कत ख़ुदा की ज़ात!

ईदू—सुभान तेरी क़ुदरत! हाँ फिर?

बक़रीदी—बस जनाब, बादशाह ने देखा कि फ़क़ीर एक दरख़्त के साए में आँखें बन्द किए बैठा है और उसके चारो तरफ़ शेर बैठे हैं।

ईदू—शेर?

गज्जू—सचमुच के?

बक़रीदी—हाँ, सचमुच के नहीं तो क्या मिट्टी के। मिट्टी के भी कहीं शेर होते हैं।

गज्जू—जे बात आप कैसे कहते हैं। लखनऊ के कुम्हार मिट्टी के ऐसे शेर बनाते हैं कि बिलकुल शेर के बच्चे मालूम होते हैं।

ईदू—अहा हा! लखनऊ के कुम्हारों की क्या बात है। ऐसे खिलौने बनाने वाले तो दुनिया के पर्दे पर नहीं हैं। विलायत वाले भी नहीं बना सकते।

बक़रीदी—अजी विलायत वाले क्या ख़ाक बनाएँगे—किराए पर तो वह रहते हैं।

यह सुनते ही सबके कान खड़े हुए। ईदू मियाँ हुक़्क़े की निगाली छोड़ कर बोले—क्या कहा, किराए पर रहते हैं, यह कैसे?

बकरीदी—विलायत की सब जमीन तुर्कों की है, अङ्ग-रेज़ उसे किराए पर लिए हुए हैं। सालाना किराया देते हैं।

ईदू—खुदा क़सम ?

बकरीदी—खुदा क़सम मैं झूठ थोड़ा ही कहता हूँ। चाहे जिससे पूछ लीजिए, मगर हाँ, अङ्गरेजों के खौफ से कोई अलानिया (प्रकट रूप में) यह बात न कहेगा। उससे खुफिया तौर पर पूछिए—फ़ौरन बता देगा। जो न बतावे तो समझ लीजिए अङ्गरेजों से मिला हुआ है।

गज्जू—जे बात छिपाई क्यों जाती है ?

बकरीदी—आप भी निरे चोंच ही रहे। इतना बड़ा बादशाह और किराए पर रहे। यह बात किरकिरा की है या नहीं ?

गज्जू—ज़रूर है।

बकरीदी—तो बस। इसलिए छिपाते हैं कि यह बात ज़ाहिर होगी तो किरकिरी होगी। मगर मियाँ विलायत तो ऊजड़ गाँव है। न वहाँ अफीम पैदा होती है, न पौण्डा, न रेवड़ी। आखिर वहाँ कोई भलामानुस रहता कैसे होगा ? अलबत्ता चाय होती है। मगर खाली चाय से क्या होता है।

ईदू—जहाँ ये चारों न्यामतें हों—अफीम, पौण्डा, रेवड़ी और चाय—बस उसे बिहिश्त समझना चाहिए।

बकरीदी—इसमें क्या शक़ है। भई हम तो चीन में जाकर रहेंगे। वहाँ अफीम के पहाड़ हैं। मगर खुदा जाने

पौण्डा, रेवड़ी और चाय होती है या नहीं। पहले इसका पता लगा लेना चाहिए। ऐसा न हो कि बैरङ्ग लौटना पड़े। अफ़ीम का तो आराम है, जब चाहा पहाड़ से एक ढेला काट लाए। मगर पौण्डा, रेवड़ी वग़ैरह भी होना चाहिए। बिना इनके अफ़ीम का लुत्फ़ कहाँ।

ईदू—जी हाँ, यह तीनों चीज़ें तो चिनिया बेगम का ज़ेवर हैं।

इतना सुनते ही सब चिल्ला उठे। वाह-वाह! वाह! क्या कही है, चिनिया बेगम के ज़ेवर हैं। ख़ूब कही, कमाल की कही—क़लम तोड़ दिया। बल्कि क़लमदान का ही सफ़ाया कर दिया।

ईदू अकड़ कर बोले—यह शायरी है, शायरी! और मैं भला क्या ख़ाक कहूँगा—यह सब चिनिया बेगम कहला रही है।

मिट्ठू चौंक कर बोले—क्या कहा, चिनिया बेगम बुला रही हैं। कहाँ बुला रही हैं, चीन में? अजी राम भजो, वहाँ लड़ाई छिड़ी हुई है—वहाँ इस वख़्त कौन भला आदमी जायगा।

ईदू—वल्ला, ख़ूब याद दिलाई—क्यों मियाँ बक़रीदी, वह चीन की जङ्ग का क़िस्सा क्या था? वह तो रह ही गया।

बक़रीदी की आँखें बन्द हो रही थीं। अतएव वह बोला—मियाँ, इस वक़्त मत छेड़ो, इस वक़्त चिनिया बेगम

की आग़ोश (गोद) में हूँ—फिर किसी दिन देखा जायगा। वह दास्तान भी सुनने लायक है, ज़रूर सुनाऊँगा।

ईदू मियाँ झल्ला कर बोले—बस इन्होंने तो जहाँ पी—गों हो गए। और यहाँ पेट में खलबली मची हुई है। अरे म्याँ, आदमी बैठे हुए हैं, कुछ बात करो। हाँ, वह ज़रा चीन की जङ्ग का क़िस्सा तो कह डालो—शाबाश है मेरे शेर!

वक़रीदी—चीन की जङ्ग का क़िस्सा इतना ही है कि वहाँ जङ्ग छिड़ गई।

ईदू—आख़िर जङ्ग छिड़ने की वजह क्या है?

वकरीदी—अब यह न पूछिए। इसमें बड़े-बड़े राज़ (रहस्य) हैं।

गज्जू—क्या राज़ है, कुछ बताओगे भी।

वकरीदी—राज़ कुछ नहीं, राज़ यही है कि··(आँखें खोल कर) हाँ, मैं क्या कह रहा था?

ईदू—यही कह रहे थे कि चीन की जङ्ग में राज़ हैं, वह राज़ क्या हैं?

वकरीदी—हूँ, वह राज यही है कि चीन की अफ़ीम का महसूल अङ्गरेज़ लोग माँगते हैं, चीन इस बात पर राज़ी नहीं होता। चीन में तो अफ़ीम के पहाड़ हैं न, तो उनसे चीन को करोरहा रुपए सालाना महसूल के मिलते हैं। अब अङ्गरेज़ लोग यह कहते हैं कि उसमें से आधा हमको दो। चीन वाले राज़ी नहीं होते। इसी बात पर जङ्ग छिड़ गई।

ईदू—यह बात तो बड़ी बेजा है, अङ्गरेज़ लोग आधा महसूल किस हक़ से माँगते हैं ?

बकरीदी—मियाँ ज़बरदस्ती का हक़ है। अङ्गरेज़ चीन से कहते हैं कि अगर हमको आधा महसूल न मिलेगा तो हम हिन्दुस्तान में तुम्हारी अफीम का बिकना बन्द कर देंगे।

ईदू—मआज़ अल्ला, यह ज़बरदस्ती। यह तो पूरी नादिरशाही है। और सुनिए, हिन्दुस्तान में अफीम बिकना बन्द कर देंगे। इस अन्धेर का कोई ठिकाना है। तोबा-तोबा!

गज्जू—अच्छा अब समझ में आया। हिन्दुस्तान में अफीम इसीलिए मँहगी बिकने लगी कि अङ्गरेज़ों को अफीम का महसूल नहीं मिलता, जे बात है।

ईदू—और क्या, महसूल नहीं मिलता तभी तो यहाँ अफीम मँहगी कर दी, उधर की कसर इधर निकालते हैं। अच्छा जो चीन महसूल देने लगे, तब तो शायद अफीम सस्ती बिकने लगे।

बकरीदी—हाँ, इसमें क्या शक है।

ईदू—तब तो हम लोगों को दुआ करनी चाहिए कि चीन महसूल देने को राज़ी हो जाय या अङ्गरेज़ों से हार जाय। तब तो अफीम सस्ती हो जायगी। अल्लाह जानता है, जब से अफीम मँहगी हो गई, अफीम पीने का लुत्फ जाता रहा। अब तो महज़ दिल-बहलाव रह गया है। मगर क्या,

ऐसे पीने से न पीना भला है। वह मसल है—'नकटा जिए बुरे अहवाल !'

इसी समय एक मियाँ साहब आए और बक़रीदी मियाँ के सामने बैठ गए। बैठते ही उन्होंने एक ज़ोर की जम्हुवाई ली। बक़रीदी मियाँ यह देखते ही आग हो गए—बोले ऐंहै, सारा नशा काफ़ूर हो गया। इन मियाँ से हज़ार मर्तबा कहा कि नशे के वक़्त सामने बैठ कर न जम्हाया करो, मगर इनकी ऐसी नामाकूल आदत है कि जब जम्हाई लेंगे तब ऐन नाक के सामने—और ख़ास नशे के वक़्त। वल्ला जी चाहता है बोटियाँ नोच खाऊँ। सारा मज़ा किरकिरा हो गया। अब दो गण्डे और गलाने पड़ेंगे तब सुरूर गँठेगा। सुनते हो जी, तुम नशे के वक़्त यहाँ मत आया करो—वरना मुफ्त में किसी दिन तक़रार बढ़ जायगी। गँवार कहीं का! न मौक़ा देखे न वक़्त; आते ही भाड़ ऐसा मुँह फाड़ दिया। ऐसे आदमियों को तो यहाँ क़दम न रखने देना चाहिए। अब जो यहाँ बैठे उस पर लानत! अब घर जाकर चुस्की लगाएँगे। तोबा-तोबा—मुफ्त में दो गण्डे की चपत लगी।

यह कह कर मियाँ बक़रीदी उठ खड़े हुए, उनके साथ ही ईदू और गज्जू भी अपने-अपने घर की ओर चल दिए।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

क्षमा कीजिएगा, इस बार चिट्ठी भेजने में कुछ विलम्ब हो गया। इसका कारण मेरी सुस्ती या आलस्य नहीं है। बात यह थी कि मैं म्यूनिसिपल-चुनाव की चपेट में आ गया था। यद्यपि इस बार मैंने यह निश्चय कर लिया था कि इस बला से बचा रहूँगा—न किसी का समर्थन करूँगा; न किसी का विरोध; परन्तु यार लोगों को यह कब सहन हो सकता था, वे ऐसे पञ्जे झाड़ के पीछे पड़े कि पिण्ड छुड़ाना असम्भव हो गया। भाई, कहने को चुनाव जनता के वोट पर होता है; पर जनता सच्चे और शुद्ध हृदय से किसे वोट देती है, इसका पता लगाना घास के गट्ठे में से सूई ढूँढ़ निकालने के समान है। ओफ ओह! कितनी धाँधली होती है, कितना अनुचित ढङ्ग अख्तियार किया जाता है कि मैं बयान नहीं कर सकता। आपने राजनैतिक नेता, धार्मिक नेता इत्यादि का नाम तो सुना होगा, पर अब कुछ दिनों से १००८ वोटयुक्त (वोट—श्री) श्रीमान् चुनाव-नेता का प्रादुर्भाव हुआ है। यह चुनाव-नेता वे लोग हैं, जिनकी दाल

राजनीति में नहीं गलती, जो अन्य किसी बात के नेता बनने की योग्यता नहीं रखते—या फिर जिन्हें केवल उन लोगों को चुनवाना होता है, जो उनके मित्र हैं और उनसे वादा करा लेते हैं कि वह अमुक पार्टी की नीति के अनुसार काम करेंगे। ऐसे नेताओं का नेतापन केवल चुनाव के समय में चमकता है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो केवल इसलिए चुनाव-नेता बनने का प्रयत्न करते हैं, जिसमें उम्मीदवार उनकी खुशामद करें—उनके यहाँ ज़रा चहल-पहल रहे—चार आदमी आते-जाते रहें। लोग समझें कि हाँ, यह भी कोई आदमी हैं। और क्या, यह ठाठ हैं। ये लोग ठेके पर चुनाव लड़ते हैं। कैसा ही उम्मीदवार हो, किसी भी योग्यता का हो—किसी चुनाव-नेता को ठेका मिल जाय, बस समझ लीजिए कि वह रुपए में बारह आने भर हो गया। कुछ लोग चुनाव के कार्य के विशेषज्ञ समझे जाते हैं और इस कार्य के लिए दूर-दूर तक बुलाए जाते हैं। इन लोगों ने चुनाव लड़ना भी एक कला बना रक्खा है। जी! मामूली बात नहीं है। कुछ दिनों में कदाचित् इस कला पर पुस्तकें भी लिख जायँ! यद्यपि यह बात विशेषज्ञों के लिए कुछ हानिकारक होगी; क्योंकि उनके रहस्यों का उद्घाटन होगा।

अब ये विशेषज्ञ लोग किस प्रकार चुनाव लड़ते हैं, इसका भी कुछ वर्णन सुन लीजिए। यद्यपि मैं इन लोगों के

पूरे हथकण्डे नहीं समझ पाया हूँ, परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, उतना बताता हूँ। सबसे पहले चुनाव-नेता की दृष्टि चेयरमैन के चुनाव पर जाती है। इस बार कौन चेयरमैन होना चाहिए। जिस व्यक्ति को वह अपने अथवा अपनी प्रिय पार्टी के अनुकूल समझते हैं, उसी को चेयरमैन बनाना स्थिर करते हैं। इसके पश्चात् इस बात का सिंहावलोकन होता है कि जितने उम्मीदवार खड़े होने वाले हैं, उनमें से कौन-कौन अमुक व्यक्ति की चेयरमैनी के पक्ष में वोट देगा। जो व्यक्ति पक्ष में होते हैं, उनको छोड़ कर और अन्य सब उम्मीदवार रद्दी कर दिए जाते हैं। इन रद्दी किए हुए उम्मीदवारों के विपक्ष में चुनाव-नेता ऐसा उम्मीदवार खड़ा करता है, जो उनके सोचे हुए चेयरमैन के पक्ष में वोट दे। यह उम्मीदवार किस योग्यता का है, इस बात की परवा कम की जाती है। योग्यता का कोई प्रश्न नहीं। क्योंकि योग्यताहीन व्यक्ति में भी चुनाव-नेता दो-चार योग्यताएँ ऐसी उत्पन्न कर देते हैं, जिनका जवाब चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी मिलना असम्भव हो जाता है। और अपने विपक्षी योग्य से योग्य व्यक्ति में भी दो-चार बातें ऐसी ढूँढ़ निकालते हैं कि उनसे अधिक बुरी बात की मिसाल ढूँढ़ निकालना टेढ़ी खीर हो जाती है। उम्मीदवार स्थिर हो जाने पर उनके पक्ष में जनता की सहानुभूति प्राप्त करने और विपक्षी उम्मीदवार के प्रति जनता के हृदय में

विरोध-भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। इस कार्य में ही सारी कला अन्तर्हित है। पक्ष के उम्मीद्‌वारों के समस्त पुण्य-कार्य ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकाले जाते हैं और उन्हें जनता के सम्मुख रक्खा जाता है, और विपक्षी उम्मीद्‌वार के सर आयु के पापों की सूची तैयार की जाती है और उन्हें जनता के कानों तक पहुँचाया जाता है। ये बातें जैसी की तैसी नहीं, वरन् यथेष्ट बृहदाकार (Enlarged) बना कर रक्खी जाती हैं। इस प्रकार चुनाव, जनता का चुनाव नहीं, वरन् चुनाव-नेताओं का चुनाव बन जाता है। जनता बेचारी चुनाव-नेताओं के अनुसार कार्य करने पर मजबूर की जाती है। "All is fair in love and war" की अङ्गरेजी कहावत के अनुसार चुनाव-नेता काय करते हैं। झूठे वादे करना, सुबह जो कहा है, शाम को उसके प्रतिकूल हो जाना, किसी से कुछ कहना और किसी से कुछ, अन्त तक लोगों को भ्रम में डाले रहना, झूठा प्रचार करना, उम्मीद्‌-वारों को बदनाम करना, उम्मीदवारों के पक्ष अथवा विपक्ष में नाजायज़ दबाव डलवाना इत्यादि कोई ऐसा काम नहीं है, जो ये नेता लोग न करते हों। कोई वोटर श्याम को अच्छा आदमी समझता है और उसको वोट देना चाहता है, परन्तु चुनाव-नेता राम के पक्ष में हैं तो उक्त वोटर को श्याम के पापों की गाथा सुनाई जाती है और राम के पुण्यों का हिसाब-किताब। यदि वोटर महाशय इससे राह पर आ गए

तब तो ठीक, अन्यथा इस बात का पता लगाया जाता है कि उक्त वोटर पर किसका दबाव है। इस बात का पता लग जाने पर उस व्यक्ति को क़ाबू में लाकर उक्त वोटर पर दबाव डलवाया जाता है। इस प्रकार ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि चुनाव का दिन आने तक बेचारा वोटर अपनी सारी अक़ल और समझ खो बैठता है, उसे अपनी बुद्धि और समझ पर विश्वास नहीं रहता और वह चुनाव-नेता की नीति के अनुसार काम करने पर विवश हो जाता है। यदि कोई वोटर कहता है कि हम तो अमुक व्यक्ति को वोट देने का वादा कर चुके हैं, तो चुनाव-नेता या उनका कोई अनुचर उस वोटर को यह सुझाता है कि ऐसे वादे का पूरा करना आवश्यक नहीं है। चुनाव में वादों और वचनों का कोई मूल्य नहीं। यदि किसी के वचन या वादे का मूल्य है तो वह केवल चुनाव-नेता या उनके पक्ष वालों का। उनके वादे—यदि उनका पूरा करना ठीक समझा जाता है—पत्थर की लीक हैं। वे कैसे टाले जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कोई वचन देता है तो वह उसी प्रकार मूल्यहीन है, जिस प्रकार कि एक बच्चे की बातें होती हैं।

किसी बात को उलट-पलट कर देना चुनाव-नेता के बाएँ हाथ का खेल है। कल शाम तक जो उम्मीदवार बड़ा अच्छा था, वह यदि चुनाव-नेता चाहता है, तो दूसरे दिन सुबह से ही बड़ा ख़राब आदमी बन जाता है!

कल तक जिसकी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते थे, आज उसकी बुराइयों के खाते खोले जा रहे हैं। कल शाम तक जिसने समस्त आयु अच्छे ही अच्छे काम किए, आज उसने अपनी उम्र में एक भी शुभ कार्य नहीं किया। अथवा कल तक जो बड़ा खराब आदमी था, आज वह भलाई की मूर्ति हो जाता है। ये सब कार्य ज़बानी प्रचार-कार्य अथवा नोटिसों और पर्चों के द्वारा होते हैं। और आनन्द यह है कि गन्दी बातों से श्रीमान् नेता जी महाराज अलग रहते हैं। कल तक एक आदमी जिसकी प्रशंसा कर रहा था, वह चुप कर दिया जाता है और एक दूसरा आदमी खड़ा कर दिया जाता है, जो उस आदमी की बुराइयों का बखान करना आरम्भ कर देता है। जनता बेचारी कल तक जिसकी तारीफें सुन रही थी, आज उसकी बुराइयाँ सुन कर अपनी बुद्धि खो बैठती है। चुनाव की भाषा में इसका नाम हवा बाँधना और हवा बिगाड़ना है! तारीफें करके हवा बाँधना, बुराइयाँ करके हवा बिगाड़ना, यही इसका अर्थ है। जनता अधिकतर भेड़ियाधसान की प्रकृति की होती है। दस आदमी जिसे अच्छा कहने लगें उसे वह भी अच्छा समझने पर मजबूर होती है, और बुरा कहते हैं तो बुरा। इस कार्य के लिए ऐसे-ऐसे गन्दे और अश्लील नोटिस निकाले जाते हैं कि देख कर घृणा होती है। और तारीफ यह है कि चुनाव-नेता महोदय इस गन्दगी के मध्य में उसी प्रकार रहते हैं,

जिस प्रकार जल में कमल ! क्या मजाल जो उनकी ओर कोई उँगली उठा दे। यदि कोई कहता भी है कि अमुक नोटिस बड़ा गन्दा निकला तो नेता महाशय मुँह बना कर कहते हैं—"वाक़ई बड़ा गन्दा निकला। क्या करें, अमुक व्यक्ति यह सब कर रहा है, हमारे समझाने से मानता नहीं।" चलिए, नेता महोदय तो दूध के धोए बन कर अलग हो गए। हालाँकि होता सब उन्हीं के इशारे पर है।

वोट पड़ने के दिन भी इन नेताओं की कला देखने योग्य होती है। जिस व्यक्ति को मरे वर्ष भर हो चुका है, उसका वोट डलवा देना इनके बाएँ हाथ का खेल है। एक ही व्यक्ति से तीन-तीन, चार-चार वार वोट डलवा देना इनके लिए साधारण बात है। अपने ही किसी गुर्गे द्वारा विपक्षी के पक्ष में जाली वोट डलवा कर उसे पकड़वा देना और इस प्रकार विपक्षी को बदनाम कर देना अथवा चुनाव-भाषा में 'हवा बिगाड़ देना' इनकी कला का एक बहुत छोटा नमूना है। कहाँ तक कहूँ—इन लोगों की महिमा अपरम्पार है। यदि इनका खड़ा किया हुआ उम्मीदवार जीत गया तब तो उसका सारा श्रेय नेता साहब को मिलता है और जो हार गया तो कार्यकर्त्ताओं के मत्थे जाती है। अमुक ने अमुक कार्य नहीं किया, अमुक ने सुस्ती की, अमुक ने यह ग़लती की—इस प्रकार कह उस मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाता है और नेता महाशय सर्वथा निर्दोष तथा निर्विकार

सिद्ध हो जाते हैं। जीते हुए विपक्षी उम्मीदवार से नेता महाशय एकान्त में मिल कर कहते हैं—"भई, कुछ कारणों से मैं प्रकट में तुम्हारा विरोध करता रहा, पर भीतर से मैंने तुम्हारे लिए ही चेष्टा की।" इस प्रकार उसे भी उल्लू बना कर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाता है। कोई हारे या कोई जीते, नेता महोदय की हर तरह चाँदी है। चित भी उन्हीं की और पट भी उन्हीं की। इन सब कार्यों में नेताओं की एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती, उल्टे यदि वह चाहते हैं तो उनको और उनके अनुचरों को कुछ लाभ हो जाता है।

लोग समझते हैं कि जनता ने चुना; परन्तु दरअसल वे चुने हुए होते हैं नेता महोदय के। जनता बेचारी मुफ्त में बेवक़ूफ बना कर छोड़ दी जाती है।

सम्पादक जी! कहाँ तक लिखूँ। इन नेताओं के हथकण्डे लिखने में एक पुस्तक तैयार हो सकती है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आज मन में कुछ देश की चर्चा करने की लहर उठी है, इसलिए आज जो कुछ लिखूँगा देश पर ही लिखूँगा। देखिए, इस समय देश में क्या-क्या गुल खिल रहे हैं। जिसे देखिए, अपनी ढफली अलग पीट रहा है। वह जो कहावत है कि अधिक जोगियों से मढ़ी उजाड़ हो जाती है, वैसी ही बात है। अङ्गरेज़ी में एक कहावत है, जिसका आशय यह है कि जहाँ अनेक बावर्ची होते हैं, वहाँ खाना ख़राब ही हो जाता है। जी हाँ, कोई कहता है नमक कम है और डालो, कोई कहता है कि रहने दो, ज्यादा हो जायगा। कोई मिर्चें झोंके देता है और कोई मसाला घुमेड़े देता है—सब अपनी-अपनी योग्याता खर्च करते हैं—नतीजा यह होता है कि खाना साला सत्यानाश हो जाता है। यही दशा आजकल भारत की है। आजकल यहाँ सब नेता ही नेता हैं। नेताओं का काम दूसरों को सबक़ देना और पाठ पढ़ाना है—नेता लोग स्वयम् किसी से कैसे सबक़ लें—किसी की बात कैसे मानें ? यदि नेता लोग ऐसा करने लगें तो बस फिर

नेता ही काहे के। नेता की तो परिभाषा यही है कि—अपनी कहो, दूसरे की न सुनो। संसार भर में अपने ही को बुद्धिमान समझो, और शेष सारे संसार को वज्र मूर्ख। क्यों सम्पादक जी, कैसी कही?

भई अब तो मेरा भी जी चाहता है कि मैं भी नेतापन पर कमर बाँध लूँ। अवसर अच्छा है—ऐसी धाँधली में भी जो नेता न बना, उसका मुख सवेरे उठ कर देखना पाप है। बस मैं नेता और मेरा बाप नेता, और जो मुझे नेता न माने उसको हिंदुस्तान से निकाल दो। वह देश-द्रोही है। मैं भी अपनी एक पार्टी बनाने वाला हूँ। इसके लिए मैं देश भर में बैलगाड़ी पर दौरा लगाऊँगा और लोगों को गहरी छनवा कर अपनी पार्टी में मिलाऊँगा। मैं प्रत्येक नगर में घूम-घूम कर लोगों से कहूँगा—भाइयो, सारा झगड़ा इस हिन्दुस्तान के पीछे है—इस भारत-भूमि के पीछे है, तो क्यों न इसे छोड़ दिया जाय? चलो कहीं और चल कर डेरा जमावें। संसार में बहुत सी जमीन खाली पड़ी है, चलो सब लोग वहीं चल कर बसें। और क्या—न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। चलिए, सारा झगड़ा समाप्त होता है। यह बात आज तक किसी भी नेता को न सूझी होगी। सूझे कैसे, सूझे तो तब जब गहरी छानें। हाँ, एक बात और है—हमारी इस पार्टी में वही सम्मिलित हो सकेगा जो हमारे क्रीड पर हस्ताक्षर कर देगा। हमारा क्रीड क्या है, वह भी सुन लीजिए:—

(१) दोनों वक्त गहरी छानना।

(२) अपने आगे किसी की कुछ न सुनना—अधिक बड़बड़ाए तो ठोंक देना।

(३) हिन्दुस्तान के बाहर जाने के लिए रेल और जहाज़ का किराया इकट्ठा करना।

(४) बात-बात में अपने को नेता कहना।

(५) अपनी पार्टी में नित्य एक दिन जूता-लात कर लेना।

(६) किसी बात पर कभी जमे न रहना। कभी कुछ कहना और कभी कुछ।

(७) जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए रोज़ नए-नए स्वाँग लाना। जैसे थिएटर-बायस्कोप वाले रोज़ नया तमाशा दिखाते हैं।

फिलहाल अभी यही सात क्रीड हैं—आवश्यकता पड़ेगी तो आगे और बढ़ा लिए जायँगे। मेरी इस पार्टी का नाम होगा—'भारतवर्ष छोड़ कर सारे झगड़े तोड़क पार्टी।' इस पार्टी का एक टेम्परेरी अधिवेशन भी मैंने कर डाला है। उसमें तय हुआ कि इस पार्टी का प्रत्येक सदस्य यह प्रयत्न करे कि भविष्य में जब भारतवर्ष का इतिहास लिखा जाय तो उसमें केवल उसी का नाम भारतवासियों के उद्धारकर्त्ता में रहे, किसी दूसरे के नाम की झलक भी न आने पावे। प्रत्येक सदस्य इस बात की चेष्टा करे कि जिस दृष्टिकोण

से वह संसार को देखता है, उसी दृष्टिकोण से भारत का प्रत्येक आदमी देखे। न देखे तो उसे ज़बरदस्ती दिखलाओ। सिर पकड़ कर उसी ओर घुमा दो—झख मारेगा देखेगा। अधिक मीन-मेख करे तो चपतिया दो। इस पर भी न माने तो सङ्खिया खिला दो। और क्या, ऐसों का मर जाना ही अच्छा है! ब्रिटिश-सरकार से कह दो कि—'लो भाई, हम हिन्दुस्तान ही छोड़ देते हैं—तुम आनन्द से यहाँ डण्ड पेलो और लोट लगाओ।' सम्पादक जी, इसकी तह में बड़ा गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। मैं आपसे बताए देता हूँ, मगर उस्ताद किसी से कहना नहीं। तुम सम्पादक लोग पेट के बड़े हल्के होते हो। जहाँ कोई बात सुनी, झट अखबार में छाप दी। यह निरा लौंडापन है। गम्भीरता तो तुम लोगों में छू नहीं गई। बात का पचाना सीखा ही नहीं। अरे म्याँ, यह गुर हमसे सीखो! हम लोग इतने गम्भीर हैं कि बात क्या; आदमी निगल जायँ और डकार तक न लें। सो भाई साहब ऐसे ही आप भी बनने का प्रयत्न कीजिए। हाँ, तो वह गूढ़ रहस्य सुन लीजिए। जब सारे हिन्दुस्तानी इस हिन्दुस्तान को छोड़ कर चले जायँगे तो अङ्गरेज़ लोग इतने बड़े मुल्क में अकेले १०० बरस भी नहीं टिक सकेंगे। ऊब कर मर जायँगे। हमारे पुराणों में लिखा है कि निर्जन स्थान में भूत-प्रेतों का वास हो जाता है, सो जनाब ज्योंही हम लोगों ने यह देश छोड़ा त्योंही भूत-प्रेतों ने यहाँ अड्डा जमाया। वे ही

भूत-प्रेत सब को मार डालेंगे। बस जब मैदान साफ हो जायगा तो हम लोग फिर यहीं लौट आवेंगे। फिर क्या— स्वराज्य ही स्वराज्य है। कहिए, कैसी अच्छी तरकीब है! अब तो आपको विश्वास हो गया होगा कि मेरी पार्टी द्वारा ही भारत को स्वराज्य मिलेगा। बस अब आप चुप-चाप हमारे क्रीड पर अपने हस्ताक्षर बना कर मेरे पास भेज दीजिए। मैं एक छकड़ा ख़रीद चुका हूँ—एक काना बैल भी ले लिया है, दूसरा भी शीघ्र ही ख़रीद लूँगा। बस जहाँ यह तैयारी हो गई, मैं दौरे पर निकलूँगा और सारे हिन्दुस्तान में घूम-घूम कर लोगों को अपनी पार्टी में मिलाऊँगा। यह काम सरल नहीं है—बड़ा परिश्रम पड़ेगा, बड़ी लात-जूती करनी पड़ेगी। परन्तु मुझे कुछ परवा नहीं, देश के लिए मेरे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। मैं भारत को स्वराज्य दिला कर छोड़ूँगा। एक काम आप और कीजिए कि भारत का इतिहास लिखना आरम्भ कर दीजिए। उसमें भारत को स्वराज्य दिलाने वालों में सबसे प्रथम मेरा नाम स्वर्णाक्षरों में लिख दीजिएगा। अपने परिश्रम का केवल इतना ही पुरस्कार चाहता हूँ।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आप कभी कान्यकुब्जों की बारात में गए हैं ? यदि कभी जाने का अवसर न मिला हो तो एक बार ज़बरदस्ती किसी बारात के साथ लग जाइए—फिर आनन्द देखिए। ऐसी बारात भी न देखी होगी। परन्तु इतना ध्यान रहे कि ठेठ कुलीन कान्यकुब्ज की बारात हो ! एक बात का ध्यान और रखिएगा—बारात में जाने के दो-चार दिन पूर्व इतना अधिक भोजन कीजिएगा कि अजीर्ण हो जाय। इससे आपको यह लाभ होगा कि जितने दिन आप बारात में रहेंगे, उतने दिनों में अजीर्ण पच जायगा और आप पुनः ताज़ःदम हो जायँगे। लोग कहते हैं कि ब्याह-बारातों में अजीर्ण हो जाता है, पर कान्यकुब्जों की बारात में महीनों का अजीर्ण भी ऐसा भागता है जैसे गधे के सिर से सींग ! मुझे तो जब कभी बदहज़मी अथवा अजीर्ण की शिकायत होती है, तो मैं किसी कान्यकुब्ज की बारात में जाने का डौल लगाता हूँ, क्योंकि घर में परहेज़ हो नहीं सकता—कान्यकुब्जों की बारात में आदि से लेकर अन्त तक परहेज़ ही परहेज़ है।

और यदि परहेज़ न करो तो दस्त लग जायँ—उससे भी लाभ ही है, अजीर्ण प्रत्येक दशा में ग़ायब हो जायगा—यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। अब मैं आपको अपना एक बारात का अनुभव सुनाता हूँ, उससे आप समझ जायँगे।

सर्दी का मौसम था। शाम के पाँच बजे बारात जनवासे पहुँची। वहाँ पहुँचते ही पुकार हुई—"आइए ठण्ढाई पीजिए!" मैं चकराया कि यह सर्दी का मौसम और ठण्ढाई! मेरे एक साथी बोले—"चलो दुबे जी, ठण्ढाई पियो।" मैंने कहा—"क्षमा कीजिए, मूझे न्यूमोनिया का शौक़ ज़रा कम है।" वह बोले—"न्यूमोनिया कैसा?" मैंने उत्तर दिया—"इस सर्दी में आप शरबत पीने को कहते हैं!" वह बोले—"ओः आपका यह मतलब है। आप घबराइए नहीं, उसमें भाँग भी पड़ी है, इससे सर्दी नहीं करेगी।" मैंने कहा—"भाँग से तो मैं नहीं डरता, परन्तु शरबत से तो कलेजा काँपता है। दूसरे एक तो योंही सफ़र का नशा सवार है, उस पर आप कहते हैं कि भाँग पियो। ख़ासे रहे!" ख़ैर साहब, सब लोगों ने ठण्ढाई पी। उनके लिए ठण्ढाई के घड़े अमृत के घड़े थे। एक पर एक गिरा पड़ता था। ठण्ढाई पीकर यार लोगों ने तमाखू फाँकी—फटाफट के शब्द से जनवासा गूँज गया। तमाखू फाँक कर शौच गए।

रात में नौ बजे के लगभग द्वाराचार हुआ। वहाँ से लौट कर जनवासे में आए। अब मैं इस फ़िक्र में था कि

कुछ खाने-पीने की बातचीत हो, परन्तु वहाँ तमाम दुनिया भर की बातें तो होती रहीं, पर भोजन का जिक्र बिलकुल ग़ायब! कुछ लोग तो ताश खेलने में जुट गए और कुछ लम्बी तान कर सो रहे। मैंने सोचा, शायद इनके यहाँ आज भोजन करना मना हो। अतएव मैं भी सब्र करके लेट रहा और थोड़ी देर में सो गया। रात के बारह बजे के लग-भग एकदम से हल्ला मचा—'आ गया! आ गया!!' मैं चौंक कर उठ बैठा और सोचने लगा, क्या आ गया। पानी आ गया या भूचाल आ गया। एक से मैंने पूछा—"क्या आ गया भाई?" उन्होंने मुस्करा कर बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया—"भोजन!" मैंने कहा, शुक्र है! बाजे वालों से कहो बाजा बजावें। परन्तु इस समय भोजन कौन करेगा—क्षुधा देवी का हार्ट फेल हो चुका है। वह बोले—"अजी अभी कौन बहुत समय हो गया—अभी केवल बारह ही तो बजे हैं।" मैंने कहा—"बलिहारी आपके इस 'केवल' की। तो दो-तीन घण्टे और ठहर जाइए 'केवल' की छूत मिट जाय तब भोजन किया जाय।" मेरी इच्छा उस समय भोजन करने की बिलकुल न थी; परन्तु लोगों ने न माना, ज़बर-दस्ती ले जाकर बिठा दिया। देखा तो पंक्ति की पंक्ति केवल आधी धोती ओढ़े बैठी थर-थर काँप रही है। एक मैं ही ऐसा था जो कपड़े पहने बैठा था। इसलिए लोग मेरी ओर वक्र दृष्टि से देख रहे थे। मेरे अगल-बग़ल जो बैठे थे, वे मुझे कपड़े

पहने देख ज़रा और हट कर बैठे। मैं सोचने लगा, यह लोग मुझे क्या भङ्गी समझते हैं—आख़िर मामला क्या है। ख़ैर, पत्तल डाली गई और उस पर दो-दो पूरियाँ और दो-तीन तरह का साग रक्खा गया और एक-एक चुटकी नमक। मैंने पूरी देखी तो पास बैठे महाशय से कहा—"आप लोग पूरी भी कपड़े उतार कर खाते हैं, यह क्यों?" वह बोले—"हम क्या कोरी-चमार हैं जो कपड़े पहने खायँ।" मैंने कहा "तो धोती भी उतार डालिए। आख़िर धोती भी तो कपड़ा ही है।" वह बोले—"धोती की बात दूसरी है।" मैंने कहा—'अच्छा साहब, दूसरी सही, बल्कि मेरी ओर से तीसरी सही। परन्तु यही धोती पहने आप शौच गए थे और यही धोती पहने अब आप भोजन कर रहे हैं—यह कौन सी बात है—चौथी या पाँचवीं? आपका कुर्ता, जो आपने इस समय तिरस्कृत कर दिया है, मेरी समझ में, अधिक शुद्ध है, क्योंकि शौच जाते समय उसे आपने उतार दिया था। अच्छा होता, यदि आप धोती उतार डालते और कुरता पहने रहते।" यह सुनते ही उन्होंने मेरी ओर घूर कर देखा, मानो खा जायँगे। मैंने कहा—"श्रीमान्, यह दृष्टि आप मेरी ओर न डाल कर, पत्तल की ओर डालें तो अधिक अच्छा है।" इसी समय किसी ने हाँक लगाई "हाँ, नमो-नारायण कीजिए।" यह सुनते ही सबने भोजन करना आरम्भ किया। मैंने जो पूरी उठा कर तोड़नी चाही

तो वह क्रीप-सोल की तरह बढ़ने लगा। इसका कारण यह था कि एक तो मैदे की पूरियाँ, दूसरे उनमें मोयन का नाम नहीं, तीसरे कम सिकी हुई, और चौथे बर्फ की तरह ठण्डी। खैर, एक कौर तोड़ कर साग के साथ खाया तो पता लगा कि साग में नमक नहीं। मैंने चिल्ला कर कहा—"अजी सुनिए तो, साग में नमक नहीं है।" एक महाशय बोले—"नमक तो पत्तल में रक्खा है। हम लोगों में साग में नमक नहीं डाला जाता, साग छूत हो जाता है।" मैंने कहा, "भगवान् इस छूत की छूत से बचावें।" सम्पादक जी, मैंने कठिनता से आधी पूरी खाई होगी, इतने में ही मुँह दुखने लगा। 'लोहे के चने चबाना' वाली कहावत आपने सुनी होगी? कान्यकुब्जों के यहाँ की मैदे की पूरी, जिसे 'लुचुई' कहते हैं, खाना भी लोहे के चने चबाने से कुछ यों ही कम है। मैंने एक महाशय से पूछा—"क्यों भई, आटे की पूरी नहीं बनी?" वह बोले—"आटे की पूरी भला मैदे की पूरी के सामने क्या टिक सकती है?" मैंने अपने पत्तल की ओर देख कर कहा—"सच कहते हो। आटे की पूरियाँ होतीं तो अब तक पेट में पहुँच गई होतीं, मैदे की पूरियाँ होने के कारण ये पत्तल पर टिकी हुई हैं।" यार लोगों ने खूब हत्थे लगाए। परन्तु भोजन करने में जाड़े के मारे सब कर्म हो गए। एक साहब उठ कर हाथ धोते हुए बोले—"जाड़े में भोजन करना भी एक मुसीबत है।" मैंने कहा—"कैसी कुछ, भग-

वान् जाड़ों में अन्नाभाव रक्खें तो अच्छा है—यह मुसीबत तो न झेलना पड़े।" ईश्वर बचावे इन बुद्धि के शत्रुओं से! रात के बारह बजे कड़कड़ाती सर्दी में लिहाफ़ के अन्दर से उठ कर नङ्ग-धड़ङ्ग भोजन करें और फिर कहें कि भोजन करना मुसीबत है! दो-चार आदमियों ने, जो वृद्ध होने के कारण जाड़े से इस प्रकार काँपते थे जैसे गाय क़साई से; इसी मारे भोजन नहीं किया कि कपड़े उतारने पड़ेंगे, चुप-चाप रज़ाई के अन्दर पड़े ख़ून का घूँट पीते रहे!

दूसरे दिन सवेरे उठते ही पहले गहरी छनी। इसके पश्चात् कुछ मिठाई खा-खाकर लोग अपनी-अपनी धुन में मस्त हो गए। मैं भी एक टुकड़ी में सम्मिलित होकर ताश खेलने लगा। ताश खेलते-खेलते बारह बज गए। बारह बजे के पश्चात् एक महाशय आकर बोले—"सब जिनिस तैयार है, आप लोग भोजन बनाइए।" मैंने चौंक कर कहा—"क्या अपने हाथ से ठोंकना-खाना पड़ेगा?" वह महाशय बड़े गर्व से बोले—"जी! कनौजियों की बारात है कि दिल्लगी।" मैंने कहा—"ठीक है! दिल्लगी तो इस बारात से कोसों दूर है। यहाँ तो पूरा जीवन-संग्राम मालूम पड़ता है। परन्तु मैं तो खाना नहीं बनाऊँगा।" वह बोले—"तो मिठाई और खा लीजिए या किसी की रसोई में शामिल हो जाइए।" मैंने अपने एक साथी से पूछा—"क्यों उस्ताद, हमें शामिल करोगे?" वह बोले—"हाँ,

हाँ, ख़ुशी से ! हाँ जी; तो दूनी जिनिस भिजवाइए। अभी चुटकियों में भोजन तैयार होता है ।"

थोड़ी देर पश्चात् बाहर निकल कर देखा तो जनवासा बिलकुल तपोभूमि दिखाई पड़ा। जगह-जगह चूल्हे दहक रहे थे और ऋषि-सन्तानें स्वयम्पाक में जुटी हुई थीं। जिसे भोजन बनाना सीखना हो वह कान्यकुब्जों की बारातें एटेण्ड करे। मैंने सोचा कि यह बारात है या बनजारों का पड़ाव।

उचित समय पर भोजन तैयार हुआ। मैं कपड़े उतार कर जा बैठा ! थाली परोस कर सामने रक्खी गई। रोटियाँ या तो कच्ची थीं या जली हुई। चावल जो बनाए गए थे वे केवल श्वेत होने के कारण तो चावल जान पड़ते थे; अन्यथा उनमें और दलिए में कोई अन्तर न था ! दाल में नमक इतना था कि उससे केवल पानी का काम लिया जा सकता था। एक साग था आलू-गोभी का; सो गोभी और आलू परस्पर असहयोग किए बैठे थे। हाँ, घी निस्सन्देह अधिक था और साथ में शक्कर भी। मैं तो दो-चार कौर खाकर ही छक गया। मेरे साथी ने पूछा—"खाते क्यों नहीं ?" मैंने कहा—"बस, जीवन के लिए इतना काफ़ी है।" उन्होंने कहा, "अजी खाओ, क्या मज़ाक करते हो। घी और ले लो, ख़ूब घी खाओ—बारातों में तो घी खाने का मज़ा ही है।" मैंने कहा—"अगर ऐसा ही घी खिलाना हो तो एक नाल

मँगा लो—जितना घी तुम पिलाओगे, पी जाऊँगा। वैसे तो खाना कठिन है।" वह मुस्करा कर बोले—"चावल और शक्कर के साथ खाओ।" मैंने कहा—"क्षमा करो, घी भी मिक़दार से ही खाया जाता है—मुझे जुलाब तो लेना नहीं है। जुलाब के लिए घी पीना फ़िजूल-खर्ची है—अण्डी का तेल ही काफी है।"

हराम का घी जो मिला तो बहुत लोग अनाप-शनाप खा गए। परिणाम यह हुआ कि पोंकने लगे। चलिए, वे लोग तो साल भर के लिए शुद्ध हो गए। एक महाशय से, जो चार बेर पाखाने जा चुके थे और पाँचवीं दफा के लिए बड़ी तत्परता से लोटे और पानी की खोज कर रहे थे, मैंने पूछा—"आज आप कई दफ़ा पाख़ाने गए—क्या कारण है?" वह मुँह बना कर बोले—"यहाँ का पानी खराब मालूम होता है—पेट बिगड़ गया।" मैंने कहा—"जी हाँ, कहीं-कहीं का पानी बिलकुल कास्टर ऑयल का काम करता है। चलो, यह भी अच्छा है—पेट साफ हो जायगा।"

भात वाले दिन मेरी भी इच्छा हुई कि जाकर देखूँ कि इन लोगों के भात अर्थात् कच्ची में कैसा क्या होता है। कच्ची की प्रतीक्षा में मैं कच्ची खा गया। प्रतीक्षा करते-करते रात के बारह बज गए। बारह बजे के निकट बेटी वाले के यहाँ से बुलावा आया। लोग पड़-पड़ के सो रहे थे। उन्हे उठाने और तैयार करने में एक घण्टा लग गया। एक बजे के

निकट बेटी वाले के यहाँ पहुँचे। वहाँ पहुँचते सब फिर नङ्ग-धड़ङ्ग हुए। मैंने भी कोट-बोट उतार डाला, केवल ऊनी स्वेटर रहने दिया। कट्टर कनौजियों ने तो ऊनी स्वेटर का तिरस्कार भी कर दिया था। खैर साहब, जाकर बैठे। पत्तल डाली गई। एक आदमी आया और एक दोना रख कर चला गया। अब दस मिनिट के लिए फिर सन्नाटा। दस मिनिट पश्चात् फिर एक दोना रख कर सून घसीट ली गई। मैंने पूछा—"क्यों जनाब, परोसने में इतनी देर क्यों?" वह बोले—"ऐसा ही दस्तूर है।" इसी प्रकार दस-दस मिनिट पश्चात् एक-एक दोना आता रहा। दोनों को जो देखा तो दोना तो इतना बड़ा कि पाव भर चीज़ आ जाय, परन्तु उसमें एक शालिग्राम की बटिया ऐसी धरी है। किसी में एक बगनी-सी विराजमान है। इसी प्रकार पत्तल चारों ओर दोनों से घिर गई। इसके पश्चात् दाल, भात, रोटी परोसी गई। एक महाशय आकर सबकी पत्तलें देखने लगे कि कोई चीज़ रह तो नहीं गई। हठात् वह बोले—"अरे खरिका तो आया ही नहीं, खरिका लाओ।" मैं चकराया कि खाना तो अभी खाया ही नहीं और दाँत खोदने के लिए खरिका अभी से मँगाया जा रहा है। मैंने कहा—"पत्तल में काफ़ी खरिके लगे हुए हैं, आप कष्ट न कीजिए।" यह सुन कर वह हँस पड़े। बोले—"यह खरिका नहीं।" इतने ही में खरिके का दोना आया तो मालूम हुआ

कि खरिका एक खाद्य पदार्थ का नाम है। हाँ, मैं यह लिखना भूल गया कि मुझे बिलकुल अलग-थलग भङ्गी की भाँति बिठाया गया था और जहाँ मैं बैठा था वहाँ मैं ही मैं था! पत्तल डालने के पूरे डेढ़ घण्टे पश्चात् भोजन हुआ। इधर भोजन आरम्भ हुआ, उधर स्त्रियों ने 'ऊँ, ऊँ' करना आरम्भ किया। मैं चौंक पड़ा, परन्तु फिर सोचा, गा रही हैं, परन्तु यह उत्सुकता उत्पन्न हुई कि यदि यह इनका गाना है तो भगवान् जाने रोना कैसा होता होगा!

बहुत सी चीजें होने के कारण उनमें अच्छी-बुरी सब थीं, इस कारण भोजन से कोई खास शिकायत न थी। परन्तु उस समय तीन बजने के लगभग था—खाया क्या जाता। एक बात और थी, परोसने वाले मुँह से नहीं बोलते थे—इशारों से पूछते थे!!

भोजन करके जो चले तो लोग बातें करने लगे—"काहे भइया, पारुस में तो कोई डेढ़ घण्टा लगा।" दूसरा बोला—"फिर? कोई मामूली आदमी थोड़ा ही हैं। देखा नहीं, दस दुनइयाँ थीं।" अब मेरी समझ मे आया कि परोसने में जितना अधिक समय लगे और दोने जितने अधिक हों, उतना ही खाना बढ़िया समझा जाता है! खैर, दोनों की अधिकता की बात तो कुछ समझ में आती है, परन्तु परोसने में देर होने की बात समझ में नहीं आती। यदि एक-एक दोना लाने में दस-दस मिनिट की अपेक्षा पन्द्रह

मिनिट लगाए जाते तो परोसने में दो-ढाई घण्टे लग जाते ; परन्तु इससे खाने में क्या बढ़ियापन आ जाता, यह कनौ-जिया भाई ही बता सकते हैं। इस जाङ्गलूपन का भी कोई ठिकाना है ?

जनवासे में आकर देखा तो एक महाशय बैठे पूरियाँ तल रहे थे। मैंने पूछा—"अरे ! आप भोजन करने क्यों नहीं गए ?" वह बोले—"हम लड़के वाले के मान्य हैं, हम बेटी वाले के यहाँ नहीं खा सकते।" मैंने कहा—"तो फिर शाम से ही खा-पी लेते।" वह बोले—"इसी समय बना लिया, ज़रा सो गए थे, इससे देर हो गई।" ओफ ओह ! कुछ ठिकाना है। उनके लिए रात के तीन बजे उठ कर भोजन बनाना-खाना एक साधारण बात थी। मैंने सोचा, यह तो अजायब-घर में रखने योग्य आदमी है !!

सम्पादक जी, इस प्रकार आधा पेट खा-खाकर तीन दिन काटे। लौटते हुए स्टेशन पर अपने को तौला तो डेढ़ पाउण्ड कम हो गया था। घर लौट कर जो आया तो लल्ला की महतारी सूरत देख कर बोली—"क्या आप बीमार हो गए थे ? दुबले हो गए हो।" मैंने कहा—"मैं बिलकुल अच्छा हूँ। खूब खुल कर भूख लगने लगी है। शरीर हलका मालूम होता है, पाचन-शक्ति तीव्र हो गई है। इस समय कुछ खिलाओ, नहीं तो तुम्हें ही कच्चा खा जाऊँगा।"

सम्पादक जी, कभी अजीर्ण की शिकायत हो तो किसी कान्यकुब्ज की बारात में चले जाइएगा, सब ठीक हो जायगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

भई, इस समय काउन्सिल के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। जहाँ देखिए, इसी की चर्चा है। क्या पढ़े-लिखे और क्या बे पढ़े—सब इसी की बातचीत किया करते हैं। पिछली चिट्ठी में मैंने आपको सूचना दी थी कि मैं भी काउन्सिल के लिए खड़ा हो गया हूँ। बड़ी दिल्लगी रही। मेरे खड़े होने का समाचार फैलते ही, नाई, धोबी, कहार, मनिहार, गुण्डे, ठिलुहे, पहलवान, कवि, शायर, लेखक, सम्पादक वग़ैरह-वग़ैरह, सब चींटी-दल की तरह घर घेरने लगे। अब जिसे देखिए वही कहता है "हमारी बात मानिए, हमारे कहे अनुसार काम कीजिए तो इस तरह काउन्सिल में घुस जाइए जैसे सूई में डोरा घुसता है।" भई वाह ! क्या कही है, सूई में डोरा घुसने की खूब कही। यह एक शायर साहब की उक्ति है। चित्त प्रसन्न हो गया।

मैंने कहा—'कोई है ? इन शायर साहब को चार पैसे इनाम दे दो।" इतना सुनना था कि शायर साहब मचल गए, बोले—'चार पैसे ! आपने भी मुझे कोई भिखमङ्गा समझा

है।' मैंने कहा—'अजी वाह, आप भी क्या बातें करते हैं। फिलहाल चार पैसे की रेवड़ियाँ खाइए, मुँह मीठा कीजिए, जब काउन्सिल में पहुँच जाऊँगा तो किसी दिन पँचमेल मिठाई खा लीजिएगा।' यह कह कर शायर साहब को ठण्डा किया। एक मित्र महोदय ने द्वार पर रोशनचौकी लाकर बिठा दी। अब मैं लाख कहता हूँ कि अरे भाई, यह क्या वाहियातपन है! पर वह कब मानते हैं। अतएव मैं चुप होकर घर में बैठ रहा। एक घण्टे भर बाद द्वार पर ढोलक बजने की आवाज़ सुनाई पड़ी। मैंने सोचा, देखूँ यह कौन-सी बला आई। द्वार खोल कर क्या देखता हूँ, चार-पाँच 'ज़नखे' ढोलक बजा-बजा कर गा रहे हैं—'सुहागिन जच्चा मान करे नन्दलाल।' देखते ही आँखों में खून उतर आया। मैंने डाँट कर उन्हे रोका और पूछा—यह क्या वाहियात बात है, तुम लोग क्यों गा रहे हो?

उनमें से एक बोला—सलामती रहे; दरवाज़े पर नौबत झड़ती देख-हमने समझा कोई खुशी का काम है—हम तो ऐसे ही मौकों पर आती हैं। अल्ला, जच्चा और बच्चा, दोनों को सलामत रक्खे।

मैंने कहा—कुछ घास तो नहीं खा गए हो, कैसी जच्चा और कहाँ का बच्चा, खैरियत इसी में है कि चुपचाप चले जाओ, नहीं ढोलक-वोलक फोड़ डाली जायगी।

वहीं पर एक व्यक्ति खड़ा था। वह उनसे बोला—यहाँ

लड़का-वड़का कुछ नहीं हुआ। बात सिर्फ इतनी है कि हमारे पण्डित जी काउन्सिल में जा रहे हैं।

यह सुन कर उनमें से एक नाक पर हाथ रख कर बोला—ऊई अल्लाह! तो यह क्या कम खुशी की बात है। गाओ री गाओ!

यह कह कर उसने पुनः ढोलक बजानी आरम्भ की और सबने गाना शुरू किया—'अरे मेरा बन्ना चला काउन्सिल को।'

यह सुनते ही उपस्थित लोगों ने मुँह फेर-फेर कर मुस्कराना आरम्भ किया और मेरे मिजाज का पारा, जो है सो, ३६० डिग्री पर पहुँचा। मैंने पुकारा—'कोई है? होने को वहाँ और कौन था—द्वार पर दुबे जी महाराज और घर के भीतर लल्ला की महतारी। परन्तु फिर भी न जाने कहाँ से आठ-दस आदमी दौड़ पड़े, बोले—क्या हुक्म है सरकार!

मैंने कहा—इन सबको शहर से निकाल दो।

सम्पादक जी, मेरा मतलब था कि यहाँ से हटा दो, परन्तु आठ-दस आदमियों ने जो एकबारगी कहा—'क्या हुक्म है सरकार' तो कुछ थोड़ा सुरूर हो आया और मुँह से निकल गया—इन सबको शहर से निकाल दो।

खैर साहब, वे सब किसी न किसी प्रकार वहाँ से हटाए गए। जब ज़रा मिज़ाज ठण्ढा हुआ तो मैंने सोचा—काउन्सिल में जाना भी बड़े सौभाग्य की बात है। अभी वहाँ पहुँचे भी नहीं और सब तरह के लोग विना बुलाए दौड़े

आने लगे। जब पहुँच जायँगे तब तो हम एक मुहल्ला ही अलग बसा लेंगे।

समाचार पाकर हमारे पण्डित जी भी दौड़े आए। आते ही पहले बोले—अब आप काउन्सिल में ज़रूर पहुँच जायँगे—जनखों का आना बड़ा शुभ होता है। ये लोग हर्ष और आनन्द की मूर्त्ति हैं और ऐसे अवसर पर ही किसी के द्वार पर जाते हैं। ये लोग बिना बुलाए आपके द्वार पर आगए—बड़े शुभ लक्षण हैं, अब आप निश्चय काउन्सिल में जायँगे। परन्तु आपने उनको ख़ाली लौटा दिया, यह अच्छा नहीं किया—उन्हें कुछ दे देना चाहिए था।

मैंने कहा—ख़ैर, अब दे दिया जायगा। परन्तु आप ज़रा मेरी जन्मपत्री देखिए कि मैं काउन्सिल में पहुँच जाऊँगा या नहीं।

पण्डित जी महाराज बड़ी देर तक जन्मपत्री देखते रहे, अन्त में बोले—आपका काउन्सिल में पहुँचने का योग पूरा है; पर कुछ जाप करा डालिए, एक उद्यापन कर डालिए। केवल तीन-चार सौ का ख़र्च है—अधिक नहीं।

"केवल तीन-चार सौ!" केवल की एक ही कही।

मैंने कहा—सोच कर बताऊँगा।

इसी प्रकार जिसे देखिए वह यही कहता था कि बस अब आप पहुँच गए। मगर आप अब ज़रा बाहर घूमा कीजिए। घर में बैठने से काम न चलेगा।

मैंने पूछा—बाहर घूमने का क्या मतलब ?

बोले—शहर में गश्त लगाइए, वोटरों से मिलिए, तब तो आपको वोट मिलेंगे—ऐसे घर बैठे कोई वोट थोड़ा दे देगा।

मैंने कहा—क्या गश्त भी लगानी होगी ?

लोग-बाग बोले—और क्या, बिना गश्त लगाए कुछ नहीं होगा।

मैंने सोचा—अब तो खड़े ही हो गए—बिना काउन्सिल पहुँचे बनेगा नहीं, इसलिए अब सब नाच नाचने पड़ेंगे।

मैंने कहा—जिस दिन कहिए, उस दिन चलूँ।

एक सज्जन बोले—एक दिन चलने से काम नहीं चलेगा—रोज चलना पड़ेगा। आप तो हुई हैं, घर का एक-आध आदमी और साथ हो तो अच्छा है, बाक़ी हम लोग रहेंगे।

मैंने कहा—घर में फिलहाल फ़क़त लल्ला की महतारी है। कहो उसे साथ ले लिया करूँ।

एक दूसरे सज्जन बोले—यह ठीक नहीं है—हालाँ कि इससे वोट बहुत मिलेंगे और जल्दी मिल जायँगे अधिक मेहनत नहीं पड़ेगी—मगर इसमें बदनामी की बात है।

मैंने कहा—बदनामी-बदनामी का ख्याल मत करो, जिससे मैं काउन्सिल में पहुँच जाऊँ, वह करो। चाहे जो करो, पर काउन्सिल में पहुँचा दो।

एक तीसरे सज्जन बोले—आप काउन्सिल में अवश्य पहुँच जायँगे, इसकी चिन्ता मत कीजिए। हाँ, तो मेरा प्रस्ताव यह है कि 'नेक्स्ट वीक' से यह कार्य आरम्भ कर दिया जाय।

मैंने सोचा या भगवान्, यह 'नेक्स्ट वीक' क्या बला है, कई क्षणों तक सोचता रहा, पर कुछ समझ में न आया। अन्त में मैंने पूछा—'नेक्स्ट वीक' से आपका क्या तात्पर्य है?

यह सुनते ही एक महोदय बोले—'नेक्स्ट वीक' का मतलब 'अगला हफ्ता'। दुबे जी, अब आप काउन्सिल में जा रहे हैं, थोड़ी अङ्गरेजी भी पढ़ लीजिए। एक मास्टर रख लीजिए, वह एक घण्टा पढ़ा जाया करे। जब तक काउन्सिल में पहुँचो, तब तक थोड़ी-बहुत अङ्गरेजी भी आ जाय।

मैंने सोचा, यह अच्छी बला लगी। इस काउन्सिल के पीछे न जाने क्या-क्या करना पड़ेगा। अपने राम की चिड़िया सी जान ठहरी—अकेला क्या-क्या करूँगा। मैंने कहा—अच्छी बात है, जो कहिएगा वह करूँगा। कहिए मास्टर रख लूँ, कहिए स्कूल में भर्ती हो जाऊँ।

एक महोदय बोले—स्कूल मे भर्ती होना उचित नहीं—उससे अन्य कामों का हर्ज होगा। आप मास्टर से घर पर ही पढ़ लिया कीजिए। कोई मिडिल पास ढूँढ़ देंगे—वह पढ़ा जाया करेगा।

मैंने कहा—कोई बी० ए० पास क्यों न रख लिया जाय, वह जल्दी पढ़ा देगा। पर इसकी किसी ने राय न दी। लोग कहने लगे—अभी आपके पढ़ाने को मिडिलची ही काफी है, मिडिलची तो आपको अभी तीन बरस पढ़ा सकता है, इसके पश्चात् ग्रेजुएट रख लिया जायगा।

यह मसला तय होने के पश्चात् यह बात उठी कि—'वोटरों के पास किस तरह चलना चाहिए।'

एक सज्जन बोले—आगे-आगे रोशनचौकी अवश्य बजती चले, जिसमें दूर ही से लोग जान जायँ कि दुबे जी वोट माँगने आ रहे हैं। औरतें घरों से निकल-निकल कर छज्जों पर आ जायँगी, वह भी देखेंगी कि हाँ, कोई काउन्सिल में जा रहा है। सब अपने-अपने आदमियों पर ज़ोर डालेंगी कि दुबे जी ही को वोट देना।

मैंने कहा—बात तो दूर की सोची; परन्तु रोशनचौकी के बजाय अङ्गरेज़ी बाजा क्यों न रहे। उसकी आवाज़ दूर तक पहुँचती है।

एक दूसरे सज्जन बोले—मेरा प्रस्ताव यह है कि बाजा चाहे जो रहे; पर आगे-आगे एक भङ्गी तुरही बजाता अवश्य चले, जैसा कि ब्याह-बारातों में होता है, इससे बड़ा प्रभाव पड़ेगा।

यह सलाह भी सबके पसन्द आ गई।

मैंने कहा—और भी जो बात करनी हो, सोच लो, पीछे फिर यह न कहना कि अमुक बात रह गई।

एक सज्जन बोल उठे—फिलहाल इतना काफी है, आगे फिर जैसा होगा, देखा जायगा।

मैंने कहा—यारो, ज़रा मेरी ख़ूब तारीफ़े करते रहो, जिससे लोग मेरी ही ओर आकर्षित हों।

एक महाशय बोले—तारीफ़ों के तो पुल बँध रहे हैं। रोज़ एक पुल तैयार हो जाता है। चुनाव का समय आ जाने तक सैकड़ों पुल तैयार हो जायँगे और आप उन्हीं पुलों पर से खट-खट करते हुए काउन्सिल में जा विराजेंगे—क्यों कैसी कही?

सब चिल्ला उठे—वाह! वाह! वल्लाह, क्या कही है, वाह! क्या पुल बाँधे हैं। मालूम होता है, आप ठेकेदारी करते हैं।

वह साहब यह सुनते ही जामे से बाहर हो गए, कड़क-कर बोले—ठेकेदारी करने वाले पर लानत भेजता हूँ, मैं शायर हूँ—समझे?

मैंने कहा—चलो अच्छा है कि शायर लोग पुल भी बाँध लेने लगे। कोई हर्ज नहीं! यह बड़ी अच्छी बात है, एक विद्या है। ईश्वर की दया से हमारे साथ सब तरह के आदमी हैं।

सो सम्पादक जी, अब मैं 'नेक्स्ट वीक' से गश्त लगाना आरम्भ करूँगा। काउन्सिल के लिए खड़े होने से एक लाभ

हो हुआ और लाभ यह कि 'नेक्स्ट वीक' के अर्थ तुरन्त मालूम हो गए और आगे भी पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध हो गया। शेष हाल अगली चिट्ठी में दूँगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

२६

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

पिछली चिट्ठी में मैंने कान्यकुब्जों के विवाह का कुछ दिग्दर्शन कराया था, अब मैं दहेज़-प्रथा पर अपने कुछ विचार तथा अनुभव प्रकट करना चाहता हूँ। इस दहेज की प्रथा से देश चौपट हुआ जा रहा है। इस प्रथा के कारण अनेक सम्बन्ध ऐसे होते हैं, जैसे मखमल में टाट का पैवन्द ! एक व्यक्ति की कन्या बड़ी सुशील है, सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, गृहकार्य मे चतुर है, उसका विवाह होता किससे है—एक देहाती लड़के से, जो महा भद्दा, असभ्य तथा अशिक्षित है। क्यो ? इसलिए कि लड़की के पिता के पास इतना धन नहीं जो किसी पढ़े-लिखे, सुन्दर लड़के के पिता की दहेज़-तृष्णा को तृप्त कर सकेगा। एक लड़का खूब पढ़ा-लिखा है, सुन्दर है, चतुर है, सब तरह से अच्छा है, उसका विवाह होता किससे है—एक महा कुरूप, फूहड़, निरक्षर, असंस्कृत कन्या से ! क्यों ? इसलिए कि लड़की के पिता ने लड़के के पिता की मुट्ठी गर्म कर दी। अब बताइए उपरोक्त दोनों प्रकार के सम्बन्धों में दम्पति का जीवन सुखपूर्वक कैसे बीत सकता

है ? हिन्दुओं में कुछ जातियों का तो यह हाल है कि वह अपने लड़के को अपने लिए उतना ही उपयोगी समझते हैं, जितना कि वेश्या अपनी लड़की को। वेश्या के यहाँ जहाँ लड़की उत्पन्न हुई, बस उसने समझ लिया कि अब बुढ़ापा चैन से कटेगा। इसी प्रकार कुछ जातियों में जहाँ बरखुरदार तवल्लुद हुए, बस उन्होंने समझ लिया कि भगवान् ने छप्पर फाड़ कर रुपयों की थैली टपका दी।

इस सम्बन्ध में मैं एक अपना निज का अनुभव सुनाता हूँ। हमारे जान-पहचान के एक महाशय हैं। जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कुलीन हैं। उनकी मर्याद भी पूरे बीवे भर है, साथ ही दरिद्र-नारायण की उन पर विशेष कृपा है। केवल पच्चीस रुपए मासिक पर एक महाजन के यहाँ नौकरी करते हैं। उनके जिस समय लड़का हुआ, उस दिन का क्या पूछना। रण्डी को जितनी और जिस प्रकार की खुशी लड़की उत्पन्न होने से होती है, उतनी और वैसी ही ख़ुशी उन्हें हुई। पुत्रोत्पत्ति से सबको आनन्द होता है, परन्तु उस आनन्द में और इनके आनन्द में अन्तर था।

पुत्रोत्पत्ति से दस-पन्द्रह रोज बाद आप मेरे पास तशरीफ लाए और बोले—मुझे दो सौ रुपए उधार चाहिए।

मैंने कहा—परन्तु आप अदा कैसे करेंगे ?

इतना सुनते ही उन्होंने बड़े ताव से कहा—अदा कैसे

करेंगे ? आप दो सौ रुपल्ली के लिए इतने चिन्तित होते हैं ? मैं दो हज़ार अदा कर सकता हूँ।

मैंने कुछ विस्मित होकर पूछा—कैसे ? क्या आपको कहीं से कुछ जायदाद मिली है ?

वह बोले—क्या आपको नहीं मालूम कि मेरे लड़का हुआ है।

मैंने कहा—यह तो मुहल्ले भर को मालूम है, परन्तु इससे क्या हुआ ?

"हुआ यह कि वह पाँच हज़ार की रकम है।"

"अच्छा ! यह मुझे पता नहीं था—ज़रा बताइए तो कैसे ? क्या उसे बेच डालने का इरादा है ?"

"आप भी चोंचफने की बातें करते हैं। अपना लड़का कोई बेचता है ?"

"क्या हुआ—फालतू अदद हो तो बेच भी डालते हैं। आखिर फिर कैसे पाँच हज़ार मिलेंगे ?"

वह अकड़ कर बोले—उसके विवाह मे।

"अच्छा ! पैदा होते देर नहीं और विवाह की तैयारी आरम्भ हो गई ?"

"हाँ और क्या ? पाँच-छः बरस की उम्र में तो मैं उसकी सगाई करूँगा। आधे अर्थात् ढाई हज़ार तो सगाई में धरा लूँगा।"

"तब तो आपके लड़का क्या हुआ, एक भले आदमी की शामत आ गई।"

"शामत आ गई या तक़दीर खुल गई? हमारे जैसे कुलीन मिलते कहाँ हैं?"

"परन्तु युगसिद्धान्त-कौमुदी के अनुसार आजकल 'कुलीन' के नकार लोप हो रहा है।"

"इसका क्या मतलब? मैंने समझा नहीं।"

मैंने कहा—आप ऐसी बातें कम समझते हैं।

"ख़ैर, यह बताए, रुपए दीजिएगा कि नहीं?"

"आपकी जायदाद मनकूला के ऊपर रुपए देना ज़रा कम समझ में आता है।"

"जायदाद मनकूला कैसी?"

"यदि आपकी जायदाद आपको पाँच हज़ार दिलाने के पहले खुदागञ्ज को मुन्तक़िल हो गई तो जनाब आपसे कोई क्या ले लेगा?"

"न जाने आप क्या कहते हैं, मेरी तो समझ ही में नहीं आता।"

"मतलब यह है कि रुपए मेरे पास नहीं हैं।"

इतना सुन कर वह मुँह फुला कर चले गए। महीना भर खून-पसीना एक करने के पश्चात् जिन्हें २५ रुपयों के दर्शन होते हैं, वह पुत्र का जन्म होते ही दो सौ रुपयों को 'रुपल्ली' कहने लगे।

लड़के का पालन-पोषण भी बड़े यत्नपूर्वक किया जाता है। बहुधा लड़के को खिलाने-पिलाने के प्रश्न पर घर में काफी चहल-पहल रहती है। पिता कहता है—लड़के को खूब खिलाओ, जिसमें जल्दी से तगड़ा हो जाय।

जिस प्रकार क़साई के हाथ बेचने वाले लोग भेड़-बकरी पालते हैं, उसी प्रकार लड़के का पालन-पोषण करते हैं। इनकी समझ में जैसे ही जैसे लड़का बड़ा होता जाता है, वैसे ही वैसे रुपयों की थैली निकट खिसकती आती है।

ऐसों के यहाँ यदि कहीं लड़की उत्पन्न होगई तो बस समझ लीजिए कि साक्षात् "सङ्कटा" ने अवतार ले लिया। संसार में इतनी जलील चीज कदाचित् ही कोई होती हो, जितनी कि कन्या! यमपुरी स्टेशन के प्लेटफॉर्म (फाँसी का तख्ता) का भय होने के कारण "जान-बूझ कर हत्या" (Wilful murder) करने की दफ़ा को बचाए रहने का ध्यान तो रहता है, अन्यथा कन्या को इस भवसागर से मोक्ष दिलाने के लिए कोई कसर नहीं उठा रक्खी जाती। आखिर करें क्या? जिस समय ध्यान आता है कि इसके विवाह में इतने पूजने पड़ेंगे और गालियाँ ऊपर से सहनी पड़ेंगी, उस समय आँखों में खून उतर आता है।

विवाह के अवसर पर इस दहेज-प्रथा के कारण बहुधा वह जूता उछलता है कि ईश्वर बचावे। लड़के वाले की नियत रहती है कि यदि लड़की वाला इस समय संन्यास

लेकर घर-द्वार हमारे हवाले कर दे तब तो अलबत्ता कुछ काम करे, अन्यथा कोई ख़ास बात नहीं। उधर लड़की वाला लड़की का विवाह क्या करता है मानों अपने बाप-दादा की गया करता है, ख़ून की घूँट पी-पीकर पण्डा जी को सन्तुष्ट करता है। वह समझता है कि इन लाइसेन्स-प्राप्त लुटेरों को किसी न किसी प्रकार सन्तुष्ट करने में ही कुशल है। परन्तु इतने पर भी बेचारे को चैन नहीं मिलता। बाप ने बेटे को सिखा दिया कि "देखो बेटा, पहले मोटर माँग लेना तब कलेवा करना" बाप-दादा को कभी छकड़ा भी नसीब नहीं हुआ; परन्तु फ़रज़न्दअली ज़बरदस्ती मोटर बाँधने की युक्ति भिड़ा रहे हैं। लड़की वाला भी "मोटर स्थाने साइकिल समर्पयामि" कह कर और साठ रुपए की बाइसिकिल दे अपना पिण्ड छुड़ाता है। आख़िर बेचारा क्या करे, जब पण्डा जी ने मोटर की एक मद क़ायम कर दी, तब उस मद में कुछ दिए बिना पण्डा जी सुफल बोलने वाले नहीं। उधर लड़के वाले ने सोचा, चलो कुछ मिला तो। बारातियों से हँस-हँस कर कहते हैं—"देखा आपने, मोटर से चले तब बाइसिकिल मिली।" यदि कोई फ़िक़रेबाज़ बाराती हुए तो बोल उठे—आपने थोड़ी ग़लती की, रेलवे ट्रेन से शुरू करते तो अन्त को कम से कम मोटर-लॉरी तो देता ही।

इतने पर भी यदि संयोग-वश लड़की वाले ने किसी मद में ज़रा किफ़ायतशारी से काम लिया, तो बस उसकी

आबरू लेने पर आमादा हो जाते हैं। भगवान् बचाए, लड़की वाले को माँ-बहिन की गालियाँ देने का अधिकार तो लड़के वाले को उसी घड़ी से प्राप्त हो जाता है, जिस शुभ घड़ी में सगाई होती है। इसलिए केवल गालियाँ देकर सन्तोष नहीं होता—"बड़ाहार खाने नहीं आवेंगे—लड़की बिदा नहीं करावेंगे।" इस मुड़चिरेपन का भी कुछ ठिकाना है? यह कार्य केवल अशिक्षित तथा निर्धन ही नहीं करते, ये नङ्गनाच वे लोग भी करते हैं जो सुशिक्षित कहलाते हैं और ईश्वर की दया से श्रीसम्पन्न हैं। इन लोगों का ख्याल है कि लड़के वाले की शान इन्हीं बातों में है। ठीक है, यदि कहीं लड़की वाले अपनी शान इस बात में समझते कि समधी को दरवाज़े पर बिठाल कर चमरौधे का थान उतारना आरम्भ कर दें तो कदाचित् समधी साहब शान बघारने का कभी नाम न लें।

सम्पादक जी, इस राक्षसी दहेज-प्रथा के कारण अबला कन्या पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं कि उनके स्मरण-मात्र से रोएँ खड़े होते है। जब तक पिता के यहाँ रही, उनकी आँखो में शूलवत् खटकती रही। पिता ने विवाह भी किया तो दहेज की बचत के कारण अपात्र-कुपात्र को सौंप दिया, ससुराल गई तो वहाँ सास-ननदें नोचने लगीं—"इसके बाप ने यह नही किया, वह नहीं किया।" बेचारी का जीवन दूभर हो जाता है।

मैं एक ऐसे परिवार को जानता हूँ, जिसमें सास ने बधू के गुप्त-स्थान को चिमटा लाल करके केवल इसलिए दागा था कि सास के लिए बधू के मायके से जो कपड़े का जोड़ा आया था, वह सास देवी को पसन्द नहीं था। यह कार्य करते हुए सास ने बधू से कहा था—यह अपनी अम्माँ को जाकर दिखाना और कह देना कि अब कभी किसी लड़की का ब्याह करें, तो समधिन का जोड़ा बहुत सोच-समझ कर दें।

यह नग्न-सत्य है—इसमें एक अक्षर भी असत्य नहीं है। और आनन्द यह कि जिस लड़के की पत्नी के साथ यह अत्याचार किया गया वह चुपचाप टुकुर-टुकुर देखता रहा—यद्यपि वह ग्रेज्युएट की दुम, नाक, कान—सब कुछ हैं। उनसे जो कहा गया कि "आपने इसका विरोध क्यों नहीं किया" तो मुँह बना कर बोले—"वह आखिर मेरी माता ही हैं, उनसे मैं क्या कह सकता हूँ।" लानत है ऐसी मातृ-भक्ति पर! ऐसी माता को तो मिट्टी का तेल डाल कर जीवित ही फूँक देना चाहिए।

विवाह में जहाँ दोनों ओर से उत्साह, स्नेह, सहानुभूति, एक दूसरे की आबरू का लिहाज़, कार्य को सुगमतापूर्वक सम्पन्न करने का ख्याल होना चाहिए, वहाँ यह ताण्डव-नृत्य होता है। दोनों पक्ष परस्पर एक दूसरे को शिकार और शिकारी की दृष्टि से देखते हैं।

अभी हाल में मुझे एक बारात में जाना पड़ा था। इस बारात में लड़के के ताऊ जी रात को तीन बजे की गाड़ी से अपने घर लौटने वाले थे। उस दिन बड़ाहार था। रात के एक बजे बड़ाहार से छुट्टी मिली। ताऊ जी को स्टेशन तक ले जाने के लिए सवारी माँगी गई। लड़की वाले बेचारे ने एक इक्के वाले से इक्का लाने के लिए कह दिया था, इसके पश्चात् वह बड़ाहार में मग्न हो गया। उस क़स्बे में गिनती के कुल छः-सात इक्के थे। संयोगवश इक्का आने में ताऊ जी के हिसाब से कुछ देर हो गई (यद्यपि रेल के टाइम के हिसाब से काफी समय था)। बस फिर क्या था ? ताऊ जी पैदल ही स्टेशन चल दिए और रास्ते भर लड़की वाले की सात पीढ़ी का श्राद्ध करते हुए स्टेशन पहुँचे। स्टेशन पर पहुँच कर लड़की वाले की ओर के आदमी को सुना कर बोले—"यदि मैंने इस अपमान का बदला उस सुअर के बच्चे (इत्यादि-इत्यादि) से न लिया तो मेरा नाम नहीं। वह भी साला क्या याद करेगा कि किसी से पाला पड़ा था।" वे ताऊ जी काफी सुशिक्षित हैं—रोज तीन घण्टे तक पूजन करते हैं, और जिस समय ज्ञानवायु में आते हैं तो संसार को तृणवत् देखते हैं—उनकी यह दशा !

इस दहेज के सम्बन्ध में धनिकों की ओर से और भी अति की जाती है। यद्यपि हज़ार दो हज़ार में अच्छी तरह कार्य सम्पन्न हो सकता है, पर श्रीमान् दस हज़ार का

सङ्कल्प करके बैठे हैं। "अमुक ने अपनी लड़की के व्याह में इतना किया था तो हम क्या उससे किसी बात में कमज़ोर हैं।" कन्या के विवाह में वाही-तबाही खर्च करने में ही ये अपनी शान और प्रतिष्ठा समझते हैं। यों कदाचित् किसी ग़रीब को कच्चा पैसा भी न देते हों, सम्भव है स्वयम् अच्छी तरह खा-पहन न सकते हों, परन्तु लड़की के विवाह में जान पर खेलने को तैयार हैं। मानों संसार में केवल लड़की का विवाह ही एक ऐसा अवसर है जिस पर मनुष्य दिल खोल कर खर्च कर सकता है अथवा जिसमें मनुष्य अपने पुरुषाओं की और अपनी नाक सवा बालिश्त अधिक लम्बी कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि विवाह के खर्च की कोई सीमा नियत नहीं हो पाती। यदि देना ही है तो लड़की को चुपके से चाहे जो दे दो, कोई मना नहीं करता, पर ईश्वर के लिए विवाह का आदर्श तो क़ायम रक्खो, जिसमें ग़रीबों का भी मुख उज्ज्वल रहे, परन्तु यह न करेंगे। एक रुपए की चीज़ देंगे, उसे दस रुपए की बतावेंगे और शहर भर में ढोल पीटेंगे। ग़रीब बेचारा तो कहीं का न रहा। अब यदि वह वाजिबी ही वाजिबी करता है, तो लोग कहते हैं—"उसके पल्ले ही नहीं है, करे कहाँ से! इतना भी न जाने कैसे किया।" अतएव इस बात को बचाने के लिए उसे भी जान पर खेलना पड़ता है। यदि धनवान् सीमा के अन्दर रह कर करे तो उसके सम्बन्ध में यह बात

कभी नहीं कही जा सकती। जो बहुत ही सङ्कुचित विचार के होंगे वे यदि कहेंगे भी तो केवल इतना कि—"हैं तो बड़े आदमी, परन्तु थोड़ी कन्जूसी कर गए।" बस ख़तम! जो समझदार और उदार हैं, वह प्रसन्न होंगे कि इतने बड़े आदमी होते हुए भी चलन नहीं बिगाड़ा—ग़रीबों का ख्याल रक्खा। परन्तु यह हो कैसे, यहाँ तो लोग कोरी शान और आडम्बर पर मिटे जा रहे हैं। इसका दुष्परिणाम भोगना किन्हें पड़ता है—बेचारी अबला कन्याओं को, जो दहेज के भय से घर के कूड़े की तरह ठौर-कुठौर फेंक दी जाती हैं। केवल इतना ही नहीं—अनेक अबलाएँ इस राक्षसी प्रथा के कारण आत्म-हत्या कर लेती हैं।

सम्पादक जी, जिस दिन इस दहेज-प्रथा का अन्त हो जायगा, उस दिन कन्याओं का जन्म लेना सार्थक होगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आख़िर 'नेक्स्ट वीक' भी आ ही कूदा। न आता तो अच्छा था ; क्योंकि—'जो मज़ा इन्तज़ार में पाया, वह नहीं वस्ले-यार में पाया।' अगर योंही इन्तज़ार ही इन्तज़ार में जीवन व्यतीत हो जाय तो अच्छा है। बहुत कट गई थोड़ी रही है, वह भी एक न एक दिन कट ही जायगी—रहेगी नहीं। नेक्स्ट वीक आते ही सवेरे चार बजे लोग-बाग आ धमके। बोले—'चलिए !' सवेरे उठने की इच्छा तो होती नहीं थी ; परन्तु काँख-कूँख कर उठा। एक बार मन में आया कि अच्छे फँसे चिड़्डा गुलख़ैरू ! आराम से दिन चढ़े तक पैर फैला कर सोते रहते थे, सो अब मुँह अँधेरे उठ कर दर-दर अलख जगाओ। अच्छा भाई, अब तो फँसे ही हैं, सब कुछ करना पड़ेगा। मुझे कुछ बदमज़े देख कर एक साहब बोले—इस समय तो आपको यह सब कुछ अखर रहा है ; परन्तु इसका मज़ा तब मिलेगा जब काउन्सिल की कुर्सी पर जाकर बैठिएगा। जनाब, यह भी एक प्रकार की तपस्या है। बिना तपस्या के सुख नहीं मिलता।

मैंने कहा—तो तपस्या करना भी हमारा ही काम है, दूसरा यह काम कर भी नहीं सकता।

एक महाशय बोल उठे—इसलिए दूसरा काउन्सिल में जा भी नहीं सकता। कैसी कही! वाह-वाह! क्या कही है! ऐसी कही कि भोर हो गया।

मैंने कहा—भोर हो गया तो अब चलना चाहिए, देर करना ठीक नहीं। मगर यारो, यह क्या अन्धेर है, न बैण्ड-बाजा, न शहनाई, न तुरही। उस रोज़ क्या-क्या प्रस्ताव पास हुए, कैसे-कैसे मसविदे बने और आख़िर में सब टाय-टाय फ़िश! हमारे ख़ज़ाञ्ची साहब कहाँ हैं?

ख़ज़ाञ्ची साहब बोले—मैं हाज़िर तो हूँ—कहिए!

मैं—क्यों साहब, यही आपका इन्तज़ाम है?

ख़ज़ाञ्ची—मेरा इसमें ज़रा भी क़ुसूर हो तो कहिए। जिन्हें बैण्ड ठीक करने के लिए रुपए दिए थे, वह अपनी ससुराल चले गए। उनके साले को ज़ुकाम हो गया है। ससुराल से तार आया था।

मैंने कहा—ज़ुकाम तो कोई ऐसा कठिन रोग नहीं है।

ख़ज़ाञ्ची—यह न कहिए। ज़ुकाम के बराबर कठिन रोग कोई है ही नहीं।

मैंने आश्चर्य से अन्य लोगों की ओर देखा—क्यों साहब, ज़ुकाम तो ऐसा भयानक रोग नहीं है?

एक महोदय बोले—ज़ुकाम होता तो बहुत ख़ तरन

है—ज़ुकाम से ही तपेदिक़, न्यूमोनिया इत्यादि कठिन रोग हो जाते हैं। जब तक ज़ुकाम बिगड़े नहीं, तभी तक ख़ैरियत है; लेकिन जहाँ बिगड़ा, बस पूरी मुसीबत समझिए।

मैं—तो क्या उनके साले का ज़ुकाम बिगड़ उठा है?

ख़ज़ाञ्ची—ऐसा ही मालूम होता है, नहीं तो तार क्यों आता?

मैंने कहा—ख़ैर, वह तो यों गए, मगर तुरही क्यों नहीं आई?

ख़ज़ाञ्ची—अजी जब बैण्ड नहीं तो ख़ाली तुरही किस काम की।

एक दूसरे महोदय बोल उठे—और काम की हो तब भी इस समय तुरही मिल नहीं सकती। सवेरे का वक़्त है, भङ्गी सब अपने-अपने काम में लगे हैं—हाँ, शाम होती तो मिल जाते!

मैं—और रोशनचौकी क्यों नहीं आई?

ख़ज़ाञ्ची—दिन में रोशनचौकी किस काम की, रोशनचौकी तो रात में मज़ा देती है। किसी दिन रात में निकलिए तो रोशनचौकी मँगा ली जाय।

मैं—बिना बाजों के तो मामला फीका रहेगा। लोगों को पता कैसे लगेगा कि दुबे जी वोट माँगने आ रहे हैं।

एक महाशय बोले—इसकी तो बहुत सहल तरकीब है—चार-पाँच आदमी आगे-आगे चिल्लाते चलें 'आए! आए!'

मैं—यह ठीक नहीं, इससे लोग कहा होली का स्वाँग न समझ लें।

वह व्यक्ति—आप भी बच्चों की सी बातें करते हैं, आज-कल कुछ फागुन थोड़ा ही है, जो होली का स्वाँग समझ लेंगे।

एक अन्य सज्जन बोल उठे, अच्छा आए-आए न कहा जाय। केवल एक आदमी आगे रहे। वह यह कहता चले—होशियार, ख़बरदार, सोने वाले जागो, दुबे जी महाराज आ रहे हैं।

यह राय सबको पसन्द आई। ख़ैर साहब, सब लोग चले।

एक आदमी ने आगे बढ़ कर वहीं हाँक लगाई। उसके आवाज़ लगाते ही बहुत से मकानों के द्वार फटाफट बन्द हो गए—औरतों ने अपने बच्चों को गोद में छिपा लिया। दो-चार आदमी डण्डे लेकर अपने-अपने द्वार पर आ बैठे और बोले—'आने देओ साले को, हम भी देखें कौन है, मालूम होता है कोई बड़ा शोरे-पुश्त डाकू है।' आवाज़ लगाने वाले महोदय तो आवाज़ लगा कर आगे बढ़ गए। जब हम लोग वहाँ पहुँचे तो एक बोले—क्यों भइया, यह दुबे जी कौन हैं?

हममें से एक बोला—दुबे जी हमारे नगर के एक प्रतिष्ठित आदमी हैं, वह काउन्सिल में जा रहे हैं, सो भाई आप सब लोग उन्हीं को वोट देना। देखो यह दुबे जी हैं। यह

कह कर एक आदमी ने मुझे आगे कर दिया। सब देख-सुन कर वह आदमी बोला—यह अच्छी रही, एक आदमी अभी चिल्लाता गया है कि दुबे जी आ रहे हैं—होशियार रहो! हम समझे कि दुबे जी कोई चोर-बदमाश हैं। राम! राम!

मैंने कहा—यह तरकीब ठीक नहीं, उस आदमी को मना कर दो कि आवाज़ न लगावे।

उसी समय एक आदमी दौड़ाया गया। मैंने उस व्यक्ति से कहा—भाई साहब, मैं आपका एक तुच्छ सेवक हूँ; आपही की सेवा करने काउन्सिल में दौड़ा जा रहा हूँ, इसलिए कृपा करके मेरा ध्यान रखिएगा।

वह व्यक्ति बोला—हाँ, यह तो ठीक है, मगर हमने तो आपको आज ही देखा है। अच्छा, अब दो-चार दिन आइए-जाइए तब बताएँगे।

मैंने हाथ जोड़ कर कहा—भइया, मैं आपका दास हूँ। कहो तो दिन में दस बेर आपके दरवाज़े आऊँ—यह कौन सी बात है।

हमारे एक साथी ने लिस्ट और पेन्सिल निकाल कर कहा—हाँ, ज़रा अपना नाम तो बताना।

वह—मेरा नाम ननकू है।

"जाति?"

वह—धानुक!

मेरे मुँह से निकला—हैं; धानुक !

वह मेरी ओर घूर कर बोला—हाँ धानुक ! कहिए।

यह सुनते ही मुझे क्रोध आ गया। मैंने कहा—क्यों बे आदमी नहीं देखता, मसनदीन बना बैठा है, उठके खड़ा हो अदब से।

वह बोला—क्यों खड़े हों ? क्या तुम्हारे नौकर हैं। ऐसे ही बड़े अफलातूँ के नाती थे तो घर में ही बैठे रहते, काहे को सवेरे-सवेरे दरवाजा घेरा है। चले तो हैं भीख माँगने और अकड़ इतनी दिखाते है। जाओ, हम नहीं जानते वोट-फोट।

इतना सुनते ही मेरे साथी मुझ पर बिगड़े। बोले—यह आप क्या ग़ज़ब कर रहे हैं, इस तरह तो एक भी वोट नहीं मिलेगा।

मैं—तो क्या इस धानुक के हाथ जोड़ूँ ?

एक सज्जन बोले—हाथ जोड़ना क्या, आपको पैर तक छूने होंगे। काउन्सिल में पहुँचना कुछ दिल्लगी थोड़ा ही है।

मैंने कहा—चाहे प्राण चले जायँ, पर मुझसे यह नहीं होगा। ऐसे काउन्सिल जाने पर लानत है !

मेरे साथी बोले—तब तो आप देश-सेवा कर चुके।

मैंने कहा—देश-सेवा करने के सैकड़ों मार्ग हैं।

साथी लोग बोले—सबसे महत्वपूर्ण मार्ग तो यही है।

मैंने कहा—हाँ, महत्वपूर्ण तो बेशक है—जेब भी गरम

होती है, इज्ज़त भी बढ़ जाती है, साधारण नागरिक की अपेक्षा काउन्सिल का मेम्बर कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाता है—ये सब बातें उसके महत्व को प्रकट करती हैं; परन्तु भाई, इस तरह दर-दर की ठोकरें खाकर, घुड़की-झिड़की सह कर, गाली-गलौज, जूती-पैज़ार करके काउन्सिल में पहुँचे भी तो किस काम का ? हम ऐसी देश-सेवा को दूर ही से प्रणाम करते हैं।

यह सुनते ही सब चिल्ला उठे—आप देश-द्रोही हैं, धोखेबाज़ हैं।

वह सब चिल्लाते ही रहे और मैं जो रस्सियाँ तुड़ा कर भागा तो सीधे घर में आकर दम लिया। सम्पादक जी, यह काउन्सिल की मेम्बरी हमारे बस का रोग नहीं है।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

कहिए, कैसे मिज़ाज हैं ? छनती-वनती है या नहीं ? यह भी पता है कि आजकल हिन्दी-संसार में क्या हो रहा है, लोग कहाँ से कहाँ जा रहे हैं, हास्य-रस की ओट में लोग क्या-क्या पैंतरे दिखा रहे हैं ? सभ्यता और शिष्टता की हत्या किस बेदर्दी से की जा रही है ? ओफ़! मैं कितने प्रश्न एकदम से कर गया—घबरा उठे होंगे। अच्छा, इन प्रश्नों के उत्तर चाहे देना या न देना, लेकिन मेरी बातें ग़ौर से सुनो। हाँ, पहले एक बात का उत्तर देना आवश्यक है। पहले आप यह बताइए कि हास्य-रस की परिभाषा क्या है ? खैर, तुम इसका उत्तर क्या खा के दोगे—तुम तो ऐन मुहर्रम के अशरे की पैदाइश हो—उधर मुसलमानों के ताज़िए दफ़न हो रहे थे, इधर आप तवल्लुद होकर रोते हुए इस संसार में तशरीफ़ लाए थे। अपने राम की पैदाइश ठीक चैत्र वदी प्रतिपदा की है, इसलिए हास्य-रस की परिभाषा जो अपने राम कर सकते हैं वह संसार में दूसरा कोई नहीं कर सकता। हाँ, केवल दो मनुष्य इस असार संसार में

विद्यमान हैं, जो हास्य-रस के तत्व को समझते हैं, उसकी सच्ची परिभाषा जानते हैं। उनमें से एक तो स्त्री है, दूसरा मर्द। एक का निवास-स्थान प्रयाग है, दूसरे का कलकत्ता। ईश्वर ने जोड़ी अच्छी मिलाई है; मगर घाटा केवल इतना है कि दोनों में पटती बिलकुल नहीं—जूता चलता ही रहता है। अगर कहीं दोनों एक हो जायँ तब तो मज़ा ही न आ जाय; फिर उनका मुक़ाबला करने वाला कौन रहे—अजी राम भजो। जहाँ इन ब्रह्म और माया का मिलाप हो—बस, एक नई सृष्टि बन जाय। यद्यपि दोनों अलग-अलग रह कर भी अपना नई दुनिया बनाने की चेष्टा में लगे रहते हैं; परन्तु बिना मेल के सदा एक आँच की कसर रह जाती है। दोनों के जन्मपत्र में परस्पर छठाठैं का योग पड़ा है। परन्तु कुछ भी हो, हैं दोनों धुन के पक्के! परस्पर एक-दूसरे को चुनौती देते रहते हैं। और चुनौती क्यों न दें? बराबर की जोड़ है। दोनों अनादि और नित्य हैं। हाँ, तो केवल ये ही दोनों प्राणी, या फिर तीसरे अपने राम हास्य-रस की सच्ची परिभाषा जानते हैं, उसका मर्म समझते हैं। सुनिए, हास्य-रस की परिभाषा यह है कि किसी न किसी प्रकार लोगों को हँसा देना। पहले तो एक बार अवश्य दाँत निकल आवें—पीछे चाहे दाँत किटकिटावें, चाहे किसी को काट खावें। हास्य-रस उसी का नाम है, जिससे लोग हँस पड़ें। इस बात की कुछ परवा नहीं कि हँसी किस बात से

आवे। हँसाने के लिए चाहे मुँह चिढ़ाना पड़े, चाहे हाथ-पैर मटकाना पड़ें, चाहे नङ्गा होकर नाचना पड़े। यह सब स्वीकार है; परन्तु एक बार हँस तो दो। बस, केवल इतने ही से उनका परिश्रम सुफल है। अपने राम के तो घर के चूहे भी हास्य-रस के अवतार हैं। हमारा लल्ला, जब उसकी महतारी कहती है तब ऐसी बेनुकत गालियाँ सुनाता है कि श्रोतागण सुन कर हँसते-हँसते लोट जाते हैं। अब आप ही बताइए कि वह हास्य-रस का अवतार है या नहीं? है—अवश्य है। बस इसी हिसाब से आप समझ लीजिए कि हास्य-रस का मर्म क्या है। एक दिन एक अक़्ल के दुश्मन मुझसे बोले—आप अपने लड़के को गालियाँ बकना सिखाते हैं, यह बड़ी बुरी बात है। आगे चल कर यह दुखदायक होगा। अभी तो उसके मुँह से गालियाँ अच्छी मालूम होती हैं; परन्तु जब बड़ा हो जायगा तब पता लगेगा।

मैंने उनको उत्तर दिया—आप तो पूरे चोंच हैं और बछिया के ताऊ से भी हुलिया मिलती है। जिस बात से अभी चित्त प्रसन्न होता है, उससे आगे चल कर चित्त क्यों दुखेगा? ऐसा कभी सम्भव हो सकता है? तुम न हँसोगे, तुम्हारे पचासों भाई-बन्धु ऐसे हैं, जिन्हें इसी में आनन्द आएगा। और जनाब, जब तक गाली-गलौज न हो, एक दूसरे की पोलें न खुलें, थुक्का-फ़ज़ीहती न हो, तब तक वह हास्य-रस

नहीं कहा जा सकता। बड़ा खेद तो यह है कि सरकार ऐसी अरसिक है—हास्य-रस के ज्ञान में इतनी जाङ्गलू है कि उसकी आज तक यही समझ में नहीं आया कि हास्य-रस है किस चिड़िया का नाम। तभी तो उसने उन बातों को, जो हास्य-रस का सार हैं, इत्र हैं, अश्लील समझ कर उनका प्रकाशन नियम-विरुद्ध ठहरा रक्खा है। इससे हास्य-रस के हम दो पण्डितों और एक पण्डिता को बहुधा कलेजा मसोस कर रह जाना पड़ता है। यदि सरकार इतनी बुद्धू न होती तो हम लोग हास्य-रस के जितने उत्तमाङ्ग हैं, उन सबका चित्र लोगों के सामने पेश करते—अभी तो केवल ऊपरी चीज़ों का चित्र पेश करके किसी न किसी प्रकार रोटियाँ चलाते हैं, उत्तमाङ्ग तक नौवत नहीं पहुँचती—हाँ, केवल नाम लेकर सब्र कर लेते हैं।

सम्पादक जी—आपने कभी भठियारों और भठयारिनों को लड़ते देखा है? ओहो! बड़ा लुत्फ़ आता है। हास्य-रस के जितने उत्तमाङ्ग हैं, उन सबका ज़िक्र उनकी लड़ाई में आ जाता है। मैं तो उन बातों को सुन कर हँसते-हँसते लोट जाता हूँ। उस समय यही विचार आता है कि ये भठियारे और भठियारी हास्य-रस के मर्म को भली-भाँति समझते हैं—यदि किसी पत्र का सम्पादन-कार्य इनको सौंपा जाय तो वह पत्र संसार में हास्य-रस का एकलौता पत्र हो और उसकी ग्राहक-संख्या खटमलों की तरह बढ़े। मुझ कमबख्त में

भी ये सब जौहर हैं; पर अफसोस है कि कोई क़द्रदान नहीं मिलता।

कुछ लोग कहते हैं कि हास्य-रस में अश्लीलता न होनी चाहिए। इन भले आदमियों को इतना भी ज्ञात नहीं कि जनाब, हास्य-रस में अश्लीलता कभी आ ही नहीं सकती। अगर कोई व्यक्ति हास्य-रस में अश्लीलता लाकर दिखा दे तो मैं उसके लिए इलाहाबाद या कलकत्ते में एक मकान बनवा दूँ। भला हास्य-रस का और अश्लीलता का क्या साथ ? ये दोनो कभी साथ-साथ चल ही नहीं सकते।

सम्पादक जी, आप ही बोलिए, है हिम्मत ? हास्य-रस में अश्लीलता लाकर दिखा सकते हो ? पर निर्णायक वही इलाहाबाद वाली हास्य-रस की पण्डिता और कलकत्ते वाला हास्य-रस का पण्डित होगा। यदि उन दोनों ने यह कह दिया कि आपके हास्य-रस में अश्लीलता है तो आप बाज़ी जीत जायँगे। परन्तु यह सब भ्रम है, चाहे प्राण भले ही चले जायँ, परन्तु वे दोनों कभी इस बात को स्वीकार न करेंगे।

हम तीनों प्राणियों ने हास्य-रस का जो आदर्श बना रक्खा है—उसमें बड़े मज़े हैं, बड़े लाभ हैं। पहला लाभ तो यह है कि चाहे जिसे गालियाँ दो, सब क्षम्य है। चाहे जिस पर उचितानुचित कटाक्ष करो—सब ठीक। चाहे जिसकी व्यक्तिगत बातें लिखो, आक्षेप करो, सब जायज़ हैं। रहे हम तीनों हास्य-रस के पूर्ण ज्ञाता—सो जनाब, हम लोग

तो निर्लेप, निर्विकार हैं। चाहे जितने पड़ें, धूल झाड़ कर फिर दुइयाँ से बैठे मूँछों पर ताव दे रहे हैं और जो मुँह में आ रहा है, बक रहे हैं। हाँ, हमारी बातों पर लोग हँस जावें—बस, हमारे प्रोत्साहन के लिए इतना ही यथेष्ट है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ लोग बेहया, बेशर्म, निर्लज्ज कहेंगे। परन्तु उन लोगों को यह नहीं मालूम कि कहीं चिकने घड़े पर पानी ठहरता है। मर्दों और मर्दानी औरतों के सामने लज्जा बेचारी एक क्षण तो टिक नहीं सकती। 'शर्म चे कुत्ती अस्त कि पेशे मर्दां आयद।' यह फ़ारसी की पुरानी कहावत है, इसे याद कर लीजिए—मौक़े पर काम देगी।

भाई, मुझे तो हिन्दी-साहित्य के सौभाग्य पर ईर्षा होती है कि उसमें ऐसे-ऐसे विशेषज्ञ भरे पड़े हैं। इन्हीं लोगों के दम से ज़रा चहल-पहल रहती है, नहीं तो मुर्दनी छा जाय। एक सज्जन मुझसे बोले—'भाई, यह पेट जो चाहे करावे—इस पापी पेट के पीछे आदमी सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।' मैंने पूछा—'इसका क्या तात्पर्य ?' उन्होंने कहा—जिस प्रकार पेट के पीछे बन्दर और भालू तक धिनाधिन नाचते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी पेट के लिए सब नाच नाचता है।

उनकी इतनी बात सुन कर अपने राम बिगड़ गए। एक डाँट बता कर मैंने कहा—जनाब, आपकी इस बात में हास्य-रस की ज़रा भी पुट नहीं है, इसलिए आपकी यह बात

बिलकुल बेतुकी है। ऐसी नीरस और शुष्क बात कहने से सुनने वालों का जी खराब होता है। यदि मेरी बात पर विश्वास न हो तो इलाहाबाद वाली और कलकत्ते वाले से पूछ लीजिए।

मेरी नीली-पीली आँखें देख कर उनकी नानी मर गई, चुपचाप कान दबाए चले गए। हम लोगों के सामने भला कोई ठहर सकता है?

भवदीय,
विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की!

संसार में कुछ प्राणी ऐसे होते हैं, जिन्हें ईश्वर की ओर से दिव्य-दृष्टि प्रदान की हुई होती है। जो बात सर्व-साधारण को दिखाई नहीं पड़ती, उसे वह इस प्रकार देख लेते हैं, जिस प्रकार कि आकाश में उड़ता हुआ गिद्ध भूमि पर पड़ी हुई छोटी से छोटी लाश को देख लेता है। ऐसे ही दिव्य-दृष्टिधारी लोगों में मेरी जान-पहचान के एक व्यक्ति हैं। इन्हे अपने और अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार में सब स्त्री-पुरुष चरित्रहीन दिखाई पड़ते हैं। इनसे जब कभी बात करने का अवसर मिला, तब इन्होंने ज़माने भर की शिकायत ही की। अमुक नेता स्वार्थी है, अमुक लीडर धूर्त है, अमुक लेखक चोरी करता है, अमुक कुछ भी नहीं जानता, अमुक का नाम-पता नहीं, इतना विख्यात क्यों हो गया—उसे तो कुछ भी नहीं आता—इत्यादि! संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं, जिसके अन्तःकरण में छिपी हुई बुराई को इनकी दिव्य-दृष्टि एक्स-किरणों की भाँति न देख लेती हो। आप लेखक भी हैं और लेख भी लिखा करते हैं।

अपने लेखों में भी आप संसार के पापों का रोना रोया करते हैं—मानो ईश्वर ने इन्हें संसार के पापों का कॉण्ट्रेक्टर बना कर भेजा है।

एक दिन का ज़िक्र है, मैं घूमता-घामता उनके दरे-दौलत पर पहुँच गया। उस समय वह एक लेख सामने रक्खे बैठे थे। मैंने पूछा—कहिए, क्या हो रहा है?

वह मुँह बना कर बोले—एक लेख लिख रहा हूँ।

"किस विषय पर?"

"हमारे तीर्थ-स्थानों में जो व्यभिचार होता है उस पर!"

"लेख तो महत्वपूर्ण है"

"कैसा कुछ!"

मैंने कुछ क्षण चुप रहने के पश्चात् पूछा—क्या सचमुच तीर्थ-स्थानो में व्यभिचार बहुत होता है? मुझे तो दो-चार तीर्थ-स्थानों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ है। परन्तु मुझे तो कोई ऐसी बात दिखाई नहीं पड़ी, जिसके बल पर मैं यह कह सकूँ कि वास्तव में ऐसा होता है। यह मैं नहीं कहता कि बिलकुल नहीं होता; होता होगा—जहाँ हज़ारों स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं, वहाँ कभी-कभी दो-चार वारदातें हो जाना बड़ी बात नहीं है, पर जैसा कि आप कहते हैं वह बात मैंने नहीं देखी।

वह हँस कर बोले—आप देख ही नहीं सकते। आप गए और चले आए। वहाँ दो-चार रोज़ रहिए तो पता चले।

मैंने कहा—दो-चार रोज़ क्या, आठ-आठ, दस-दस दिन रहा हूँ और ऐसे लोगों को जानता हूँ जो महीनों रहे हैं, परन्तु न तो मैंने कभी कुछ देखा और न उन लोगों से सुना।

वह बोले—एक बात और है—"जिन खोजा तिन पाइयाँ"—जो खोजा करता है, कोशिश करता है, उसे ये बातें दिखाई पड़ती हैं, हर एक को थोड़े दिखाई पड़ती हैं।

"हाँ, यह बात हो सकती है—खोज तो मैंने कभी की नहीं।"

"वहाँ रहिए और ज़रा आँख-कान खोले रहिए तो अवश्य दिखाई पड़े। हरिद्वार में हर की पैड़ी पर सैकड़ों दुश्चरित्र स्त्री-पुरुष घूमते रहते हैं, और मैं दिखा सकता हूँ।"

"हरिद्वार में मैं भी पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक रहा हूँ और मेरे अनेक मित्र ऐसे हैं जो महीनों रहे हैं, पर उन्हें तो एक भी दुश्चरित्र स्त्री नहीं मिली।"

"तो क्या वहाँ सब सच्चरित्र ही जाती हैं?"—उन्होंने हँस कर कहा।

"यह भी मैं नहीं कहता। परन्तु बिना देखे-सुने केवल अनुमान से सबको या अधिकांश को दुश्चरित्र समझ लेना भी अन्याय है।"

"अच्छा, कभी मेरे साथ चलिए तो मैं आपको दिखा दूँगा।"

"अच्छी बात है, जब आप जाने लगें तो मुझे बताइएगा।"

"मैं तो बहुधा जाया करता हूँ।"

"क्यों?"

"यही लीला देखने। मैं इस विषय का पूर्ण अध्ययन कर रहा हूँ और प्रत्येक बात का स्वानुभव प्राप्त करता हूँ।"

"अच्छी बात है। इस बार मैं आपके साथ अवश्य चलूँगा।"—यह कह कर मैं बिदा हुआ।

पन्द्रह दिनों के पश्चात् एक दिन वह मेरे पास आए और बोले—हरिद्वार चलते हो?

"क्या आप जा रहे हैं?"

"हाँ, कल जा रहा हूँ।"

"तो मैं भी चलूँगा।"

"तो तैयार रहना।"

दूसरे दिन मैं उनके साथ हरिद्वार के लिए रवाना हुआ। उन महाशय ने स्टेशन से ही मनुष्यों के चरित्र का अध्ययन आरम्भ कर दिया। एक स्त्री घूँघट निकाले बैठी थी। संयोग से उसने घूँघट उठा कर एक बार देखा और मेरे साथी से उसकी आँखें एक क्षण के लिए मिल गईं। उन्होंने झट मेरा हाथ दबाया और मुस्करा कर बोले—देखा?

मैंने पूछा—क्या?

"बस इसीलिए तो कहता हूँ कि आँख-कान खोले रहो,

बुद्धू बन कर बैठे रहते हो, इसीलिए कुछ देख-सुन नहीं पाते। वह स्त्री, जो घूँघट निकाले बैठी है, दुश्चरित्र है। इसने अभी मेरी ओर किस प्रकार देखा था, यह तुमने ग़ौर नहीं किया।"

मैंने कहा—उसने देखा तो एक बेर अवश्य था; पर आपकी ओर देखा था या किसी दूसरी ओर—इसका निश्चय नहीं कर पाया।

"यही तो सारी बात है—इसका निश्चय करने के लिए अनुभव चाहिए।"

मैंने कहा—ऐसा अन्तर्यामी अनुभव अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ।

"देखिए धीरे-धीरे हो जायगा—ज़रा हरिद्वार पहुँचें। वहाँ हर की पैड़ी पर इतनी दुश्चरित्र स्त्रियाँ मिलेंगी कि चाहे गठरी बाँध लाइए।"

इसी प्रकार वह रेल में भी स्त्री-पुरुषों का अध्ययन करते हुए गए। न जाने कितनी स्त्रियों को उन्होंने दुश्चरित्र बताया और कितने पुरुषों को बदमाश। यद्यपि मेरी समझ खाक न आया कि वह किधर से दुश्चरित्र तथा बदमाश दिखाई पड़ते थे। एक स्त्री और पुरुष रेल में स्थान पाने का शीघ्रता के कारण कुछ घबराहट में चौकन्ने थे। उन्हें देख कर आप झट बोल उठे—यह आदमी इस स्त्री को भगाए लिए जा रहा है।

मैंने पूछा—यह आपने कैसे जाना ?

वह बोले—यह दोनों कितने घबराए हुए हैं—यह आपने देखा ?

मैंने कहा—थर्ड क्लास में यात्रा करने वाले अशिक्षित लोग बहुधा घबराए-से रहते ही हैं।

उन्होंने कहा—बस यही तो आप जानते नहीं, इनकी घबराहट दूसरे तरह की थी।

मैंने कहा—होगी, मैंने तो कोई ऐसी बात देखी नहीं।

"देखो कैसे, अनुभव हो तब तो देखो ?"

ख़ैर, हम लोग हरिद्वार पहुँचे और एक धर्मशाला में अड्डा जमाया। उचित समय पर हम लोग स्नान करने के लिए गए। स्नान करने में मेरे साथी प्रत्येक स्त्री को घूर-घूर कर देखते थे। क्यों ? इसलिए कि वह अच्छे-बुरे की परख करते थे। यदि उन्हीं की तरह कोई अन्य पुरुष स्त्रियों को देखता था तो वह झट उनकी सूची के बदमाश कॉलम में प्रविष्ट हो जाता था। स्नान करके लौटते समय मैंने उनसे पूछा—कहिए, आप तो कहते थे कि यहाँ बदमाश औरतों की गठरी बाँध लो, परन्तु मुझे तो एक भी न दिखाई पड़ी।

वह बोले—ये जितनी नहा रही थीं, सब बदमाश थीं—इनमें मुश्किल से एकाध अच्छी थी।

मैंने कहा—तो इनमें से दो-चार को साथ लिए चलते।

वह मेरी ओर चंकरा कर देखते हुए बोले—कहाँ लिए चलते ?

"धर्मशाला में। आखिर जब आए हो तो कुछ मनोरञ्जन का सामान भी तो चाहिए।"

वह मुस्करा कर बोले—ओहो! आपका यह मतलब है; पर भाई मैं तो कभी ऐसा काम करता नहीं।

मैंने कहा—पर उस्ताद, मैं तो इसके लिए तैयार हूँ, प्रबन्ध करना तुम्हारे हाथ है। सवेरे चार-छः पकड़ लाए उन्हें शाम को छोड़ दिया; शाम को चार-छः साथ लगा लाए, उन्हें सवेरे छोड़ दिया—क्यों, कैसी रहेगी ?

वह बोले—पकड़ क्या लाए, कोई भेड़-बकरी है क्या ?

"आपकी बातों से तो अब तक यही मालूम होता रहा है। आप तो गठरी बाँधने को कहते थे—गठरी तो घास-फूस की बाँधी जाती है, भेड़-बकरी तो फिर भी ग़नीमत हैं।"

शाम को पुनः प्लेटफॉर्म पर घूमने गए। वहाँ हज़रत घूम-घूम कर सबको देख रहे थे। हठात् मुझसे बोले—ये दो स्त्रियाँ जो जा रही हैं, जानते हो क्या कहती थीं ?

मैंने कहा—यह सौभाग्य तो आप ही को प्राप्त हैं कि आप उनकी बातें समझ सकें।

वह बोले—ये पञ्जाबी भाषा में मेरी ओर लक्ष्य करके कह रही थीं कि यह आदमी कितना सुन्दर है।

"अच्छा ! तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, सुन्दर तो आप किसी हद तक कहे जा सकते हैं।"

"अब यदि मैं चाहूँ तो इन दोनों को फाँस सकता हूँ।"—वह अकड़ कर बोले।

मैंने कहा—तब तो आपकी सुन्दरता के सम्बन्ध में कुछ कहना गोया अपने फँसाने का सामान करना है। उन बेचारियो को शायद यह बात मालूम नहीं है। खैर, तो श्रीगणेश कीजिए।

उन्होंने फिर उधर देखा; परन्तु वे दोनों दूर निकल गई थी। मैंने कहा—अफसोस, ऐसे सुन्दर आदमी को इतना मौका भी न दिया कि वह आत्म-निर्णय तो कर लेता।

जहाँ कही दो-चार स्त्रियों को हँसते देख लिया. बस बोल उठे—"ये हम लोगों को देख कर हँस रही थीं।" यदि कहीं कुछ भीड़ के कारण कोई स्त्री इनसे भिड़ कर निकली, बस आप तुरन्त बोल उठे—"देखा, यह स्त्री कैसा धक्का मार कर चलती है।" एक बार मजे में आकर आपने भी एक स्त्री के कुहनी मार दी। वह तुरन्त ही घूम पड़ी और बोली—तुम्हे दिखाई नही पड़ता क्या—अन्धों की तरह चलते हो।

मैंने कहा—देखिए, जिसके आपने कुहनी मारी थी, वह बुला रही है।

वह बोले—चले आओ चुपचाप।

मैंने कहा—उस्ताद, इस हवा में किसी दिन वह बे-भाव की पड़ेगी कि चाँद गञ्जी हो जायगी।

वह बोले—आप समझे नहीं।

मैंने कहा—बिलकुल नहीं, इन बातों के समझने का कुल कॉन्ट्रेक्ट आप पहले से हथिया चुके हैं।

उन्होंने कहा—मज़ाक़ नहीं, उसने इसलिए कहा कि जिसमें हम लोग ठहर कर कुछ बातें करें।

अभी तक तो मैं उनकी बातों पर मन ही मन हँसता रहा; परन्तु अब मुझे क्रोध आने लगा। मैंने कहा—जनाब, अच्छा हुआ जो आप नहीं ठहरे, वरना खोपड़ी देवी आज बड़ी मुसीबत में फँस जातीं।

सम्पादक जी, कहाँ तक लिखूँ, हम लोग तीन दिन वहाँ रहे और दुष्ट यही बकता रहा कि अमुक बदमाश है, अमुक ऐसी है, अमुक वैसी है। यहाँ से बड़ा दावा करके गए थे, परन्तु वहाँ यह एक भी स्त्री ऐसी नहीं दिखा सके, जिसे मैं दुश्चरित्र मानने के लिए बाध्य होता।

घर लौटते समय वह बोले—देखा आपने, यहाँ कितना व्यभिचार होता है?

मैंने कहा—अरे यार, जरा तो ईश्वर से डरो—तुम वहाँ से बड़ी-बड़ी बातें मारते हुए आए थे; परन्तु यहाँ तुमने कोई बहादुरी न दिखाई। यदि ऐसी एक स्त्री भी दिखा देते, जो वास्तव में बदमाश होती, तब भी मैं तुम्हारी बात मान

लेता । हाँ, तुम अलबत्ता बदमाशी का जामा पहने घूमते रहे, परन्तु किए-धरे कुछ न हुआ । ऊपर से कहते हो व्यभिचार होता है—व्यभिचार होता है तुम्हारा सिर !

वह बोले—जब मेरा इस पर लेख निकले तब देखना ।

मैंने क्रोध को दबा कर पूछा—लेख में क्या लिखोगे ?

"यहाँ के व्यभिचार का वर्णन लिखूँगा । जिसमें लोगों की आँखें तो खुलें ।"

"यदि यहाँ जो तुमने देखा है वही लिखोगे, तब तो तुम्हारा लेख रद्दी की टोकरी में फेंका जायगा ।"

"सो मैं ऐसा बेवक़ूफ़ नहीं हूँ—यह मैंने समझ लिया कि यहाँ ऐसा होता है—बस, अब घटनाओं की कल्पना कर लूँगा ।"

मैंने कहा—जी चाहता है तुम्हें पीट चलूँ । तुम्हारे ऐसे धूर्तों ने ही बहुत से भ्रम फैला रक्खे हैं । यह मैं नहीं कहता कि यहाँ सब पुण्यात्मा ही आते हैं । व्यभिचार कहाँ नहीं है—कुछ न कुछ सभी जगह है; परन्तु आप जो रूपक अपने लेख में बाँधेंगे, उसका तो कहीं यहाँ नाम भी नहीं है ।

"आपके लिए नहीं है, मेरे लिए तो है ।"

मैंने कहा—यदि मेरी चले तो आप ऐसे आदमियों को पागलख़ाने की चहारदीवारी के अन्दर ही रक्खूँ । आप तो साधारण पागल से कहीं अधिक ख़तरनाक हैं । आप झूठ के पुल बाँधेंगे और सम्पादक आपकी बात को वेद-वाक्य

समझ कर ज्यों का त्यों छाप देंगे, और ज्यादा तबीयतदार हुए तो एक टिप्पणी जड़ देंगे। बस खतम—देश का उद्धार हो गया।

सम्पादक जी, आप ऐसे लेखकों से सावधान रहें, जो अपनी कल्पनाओं को सत्य घटना का रूप देकर सम्पादकों की आँखों में धूल झोंकते हैं और भ्रम फैलाते हैं।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

३०

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

कहिए, कैसे मिजाज हैं ? इस बार आप काँङ्ग्रेस के अधिवेशन में जायँगे या नहीं ? मेरा तो किसी क़दर इरादा हो रहा है। पारसाल कानपुर-काँङ्ग्रेस में तो अपने राम पहुँच ही न सके—कारण लिख चुका हूँ ; परन्तु इस बार आसाम तो अवश्य ही जायँगे—चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय। आसाम मैंने आज तक नहीं देखा—नहीं, इतना झूठ न बोलूँगा—नक्शे में कई बार देखा है और पढ़ा भी है। मगर वह बात दूसरी थी और यह बात तीसरी होगी। इसलिए जाना आवश्यक है। आप भी टहलते हुए चले आइएगा। इस बार की काँङ्ग्रेस देखने योग्य होगी। हालाँकि देखने योग्य हर साल होती है, परन्तु इस साल कुछ बात ही और होगी। शायद आप पूछ बैठें कि वह क्या बात है, जो होगी। तो इसका उत्तर मैं यह दूँगा कि यद्यपि यह मैं स्वयम् नहीं जानता कि क्या होगा ; परन्तु हाँ, इतना मैं कहूँगा कि होगा कुछ न कुछ जरूर, और न कुछ होगा तो तीन-चार रोज चहल-पहल ही रहेगी। भई, मेरा तो यह

सिद्धान्त है कि ईश्वर पैसा दे तो कॉङ्ग्रेस अवश्य जाय। आम के आम और गुठलियों के दाम। मेला-तमाशा भी देखिए, नए देश की सैर कीजिए और देश-सेवा घाते में। और जो कहीं इसी सैर-सपाटे में स्वराज्य मिल गया—हालाँकि फ़िलहाल उसके मिलने की आशा बहुत ही कम है—तो वह घाते पर घाता अथवा महाघाता समझिए।

भई, इस वर्ष रहेगा आनन्द! काउन्सिलों के लिए तो कॉङ्ग्रेस सिरफुड़ौव्वल करने ही लगी है—अब रह गई पदों के ग्रहण करने की बात, सो उसके पास कराने के लिए इस वर्ष कुछ लोग अवश्य ज़ोर लगाएँगे। मज़े की ख़ास बात यही होगी। देखना कैसे-कैसे देशभक्त पहुँचते हैं और क्या सिर हिला-हिला के व्याख्यान फटकारते हैं। बस उस समय तो ऐसा मालूम होता है कि स्वराज्य इन लोगों के चरणों पर लोटने के लिए रस्सियाँ तुड़ाए दौड़ा चला आ रहा है। निस्सन्देह वह दृश्य देखने योग्य होता है। यार स्वराज्य मिले चाहे न मिले, पर कॉङ्ग्रेस के समय तीन-चार दिन स्वराज्य की कुछ चाशनी अवश्य मिल जाती है। अपने राम तो इसी पर लट्टू हैं। स्वराज्य में इससे अधिक और क्या होगा? साल में यह साढ़े तीन दिन का स्वराज्य जिसे भोगने को मिले उसके समान भाग्यवान् और कौन हो सकता है?

हाँ, एक सलाह पूछता हूँ। मेरी इच्छा है कि इस बार मैं भी एक प्रस्ताव पेश करूँ। वह प्रस्ताव इस सम्बन्ध का

होगा कि अभी तक तो हम लोग इधर-उधर भटकते रहे; मगर अब डट कर काम करना चाहिए। वह काम क्या है? वह काम है स्वराज्य-वुराज्य का पिण्ड छोड़ कर आनन्द-पूर्वक काउन्सिल का सुख लूटना। अरे भाई, जब स्वराज्य मिलने की कोई आशा ही नहीं, तो क्यों न काउन्सिल और सरकारी पदों का आनन्द भोगा जाय। क्या कहूँ—अफ़सोस यही है कि मुझ कमबख्त को कोई पूछता ही नहीं, वरना मैं अकेला ही समस्त सरकारी पदों को सुशोभित करने को तैयार हूँ। शायद आप पूछें कि—'यदि ऐसा हो भी जाय तो आप अकेले सब पदों का कार्य कैसे कर सकेंगे।' मैं कहता हूँ कि इस सम्बन्ध में शङ्का करना एक बहुत छोटी सी मूर्खता है। अजी जनाब, अपने राम को वह-वह पैंतरे याद हैं कि अकेले तमाम दुनिया के काम कर सकते हैं—और लुत्फ़ यह कि घर के बाहर क़दम नहीं निकालेंगे। हमारे एजेण्ट सब शहरों में मौजूद रहते हैं—जहाँ एजेण्ट न होंगे वहाँ पैदा किए जायँगे। इस प्रकार चाहे जितना काम आ पड़े, आपकी दया से सब चुटकियों में हो जायगा।

स्वराज्य-पार्टी वाले कहते हैं कि और सब ठीक है। हम काउन्सिलों में जायँगे, सरकार से भत्ता लेंगे, यह सब कुछ करेंगे; परन्तु सरकारी पद ग्रहण न करेंगे। मैं कहता हूँ, ये स्वराज्य-पार्टी वाले यह बड़ी साधारण भूल कर रहे हैं। भाइयो, अब जो कुछ मिले, लेते चले जाओ, ज़रा भी चीं-

चपड़ न करो। अब क्या है, अब तो तीन साल के लिए अमर हो गए, अब जो इच्छा हो, करो। इसी बात पर मुझमें और एक सज्जन में कल झगड़ा हो गया। वह कहने लगे कि सरकारी पद ग्रहण करना महा मूर्खता है।

मैंने पूछा—क्यों?

वह—सरकारी पद ग्रहण करने से मनुष्य सरकार के विरुद्ध चल ही नहीं सकता।

मैंने कहा—वाह, चल कैसे नहीं सकता? सरकारी पद ग्रहण करने से क्या किसी की टाँगें थोड़ा ही टूट जाती हैं।

वह—नहीं, आप मेरा मतलब नहीं समझे। मेरा मतलब यह है कि सरकारी पद पर काम करने वाला सरकार के खिलाफ़ नहीं जा सकता।

मैं—क्यों नहीं जा सकता, क्या लँगड़ा हो जाता है! मान लीजिए लँगड़ा भी हो जाय तो ऐसी दशा में घोड़ा, गाड़ी, मोटर, लॉरी, रथ, बेहली, छकड़े इत्यादि-इत्यादि मौजूद हैं, उन पर चढ़ कर जा सकता है।

वह—आप बिलकुल बौड़म आदमी हैं; आप से बात करना व्यर्थ है।

मैं—वाह! जब बहस में हार गए तो गाली-गलौज करने लगे। मेरी बात का उत्तर दीजिए।

वह—भाई साहब, सरकारी पद लेकर कोई व्यक्ति सरकार के खिलाफ़ कोई काम नहीं कर सकता।

मैं—यह भी ग़लत है। मुझे आप जितने सरकारी पद हैं वह सब दिला दीजिए, देखिए मैं कैसे काम करता हूँ।

वह—आप क्या करेंगे ?

मैं—करना-धरना क्या है, आनन्द से चैन की बंसी बजाऊँगा।

वह—तो सरकार के विरुद्ध काम करने वाली बात कहाँ रही ?

मैं—वह तो मौजूद ही है—हाँ, उसके अनुसार काम करना यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है।

वह—इसके क्या अर्थ ?

मैं—देखिए, जब तक हमारी इच्छा सरकार के विरुद्ध काम करने की नहीं है, तब तक तो हम कुछ करेंगे नहीं। और ईश्वर न करे, जिस दिन इच्छा चली उस दिन फिर किसी के रोके रुकेंगे भी नहीं। सब काम खिलाफ करेंगे। सरकार कहेगी बैठो तो हम खड़े रहेंगे, वह कहेगी खड़े हो जाओ तो हम बैठ जायँगे, बल्कि लेट जायँगे, सरकार कहेगी कि खाओ तो उस दिन हम एकादशी व्रत कर डालेंगे, और कहेगी लङ्घन कर डालो, तब नाक तक ठूस-ठूस कर खायँगे, फिर चाहे हैजा ही क्यों न हो जाय।

वह महाशय झल्ला कर बोले—यही आपकी व्यर्थ बातें हैं। आप मेरा मतलब ही नहीं समझते।

मैंने कहा—बस-बस रहने दीजिए, इससे मालूम होता है कि आप मतलब समझ ही नहीं सकते।

वह—ख़ैर, आप ऐसा ही समझिए।

मैं—मैं कहता हूँ कि सरकारी पद ग्रहण करने में हानि ही क्या है?

वह—कोई फ़ायदा नहीं।

मैं—फ़ायदा तो पहले काउन्सिल में जाने से भी नहीं था; फिर बाद को कैसे निकल आया?

वह—कॉङ्ग्रेस ने पास कर दिया; इसलिए फ़ायदा निकल आया।

मैं—तो जनाब, यदि कॉङ्ग्रेस पद ग्रहण करना पास कर दे तो फिर उसमें भी फायदे ही फ़ायदे नज़र आने लगें।

वह—हाँ, बात तो ऐसी ही है।

मैं—जो बात ऐसी ही है, तो फिर क्यों न इस वर्ष कॉङ्ग्रेस में चल कर यह बात पास करा ली जाय।

वह—हमारे आपके पास करने से थोड़ा ही हो सकता है, जब तक अधिकांश प्रतिनिधि पास न करें।

मैं—उँह! यह तो यार लोगों के बाएँ हाथ का खेल है।

वह—वह कैसे?

मैं—देखिए, यहाँ से अपने साथ कुछ ऐसे आदमी भर्ती करके ले चलिए जो आँखें बन्द करके आपके पक्ष में वोट

दें। बस फिर कॉङ्ग्रेस अपने बाप की है, जो चाहें पास करा लीजिए।

वह—पर इतने आदमी मिलेंगे कहाँ?

मैं—यदि आने-जाने के किराए और भोजनों का डौल हो सके तो आदमी कोड़ियों मिल सकते हैं, चाहे स्पेशल ट्रेनें भर ले चलिए।

वह—हाँ, युक्ति तो बड़ी अच्छी है।

मैं—अच्छी तो सब कुछ है; पर रुपया कहाँ से आए?

वह—चन्दा कर लिया जायगा।

मैं—भला हम ईमानदारों को चन्दा कौन देगा?

वह—बस, इतनी ही कसर है।

मैं—यह कसर बहुत बड़ी है।

वह—इसके अतिरिक्त एक बात और है।

मैं—वह क्या?

वह—आप प्रतिनिधि ले भी तो नहीं जा सकते।

मैं—क्यों?

वह—यह अधिकार केवल कॉङ्ग्रेस-कमेटियों को है कि वे प्रतिनिधि चुन कर भेजें। बिना कॉङ्ग्रेस-कमेटियों के चुने हुए आप पिण्डाल के अन्दर घुसने भी न पाएँगे।

मैं—वाह! यह कैसे हो सकता है? जो प्रतिनिधि-शुल्क दे वही जा सकता है।

वह—नहीं, ऐसा नहीं है। विना नियमानुसार चुने गए

कोई नहीं जा सकता। हाँ, दर्शक की हैसियत से जा सकते हैं; परन्तु वोट देने का अधिकार नहीं रहेगा।

मैं—यह बात है?

वह—हाँ, यह बात है।

मैं—ओ! तब तो हम असली बात समझ गए।

वह—क्या बात समझ गए?

मैं—बस, समझ गए!

वह—आख़िर क्या समझ गए, कुछ मालूम भी तो होना चाहिए।

मैं—बस, समझ गए!

वह—वाह री वेहशत! अभी तक तो आप भले-चङ्गे थे। इतनी जल्दी क्या हो गया?

मैं—वल्लाह, बस समझ में आ गया।

वह—अरे साहब, क्या समझ में आ गया?

मैं—यही कि ऐसी दशा में कॉङ्ग्रेस उन्हीं लोगों के हाथ में है जिनका कॉङ्ग्रेस-कमेटियों पर अधिकार है। वे लोग जिधर चाहें कॉङ्ग्रेस की नकेल घुमा दें।

वह—यही तो बात है।

मैं—तब फिर क्या, जब यही बात है तो जाइए, ठण्ढी-ठण्ढी हवा खाइए।

वह—कॉङ्ग्रेस तो चलिएगा ही?

मैं—अब कॉङ्ग्रेस जाना व्यर्थ है, अब तो रहस्य समझ में आ गया।

यह सुनते ही वह महाशय अपना सा मुँह लेकर चल दिए।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

३१

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

मैंने सुना है कि आप "भारत में अङ्गरेजी राज्य" की ज़ब्ती के सम्बन्ध में यू० पी० सरकार के विरुद्ध मुक़दमा दायर करने वाले हैं। क्या यह सच बात है ? भाई शेर-बकरी की लड़ाई है—ज़रा हाथ-पैर बचाए रहना। मेरी तो राय यह है कि पहले आप अपनी जन्म-पत्री दिखवा लो। यदि उसमें ग्रहों का योग ठीक हो और किसी बल-वान् ग्रह की दशा हो, तब तो दावा दायर करो—अन्यथा टाल जाओ। मुफ्त में 'आ बैल मुझे मार' वाला काम करके ज़िल्लत उठाना बुद्धिमानी नहीं है। यह काम आप अवश्य करें। साथ ही यदि ईश्वर न करे आपको दावा दायर ही करना पड़े तो मुहूर्त्त दिखा कर दावा दायर कीजिएगा। शुभ मुहूर्त्त में दावा दायर किया जायगा तो निश्चय फ़तह होगी, अन्यथा देखिए ज्योतिषी जी क्या कहते हैं :—

यह मैं अपनी ओर से नहीं, वरन् अपने एक ज्योतिषी मित्र की सलाह से लिख रहा हूँ। यद्यपि कल उनकी

मेरी बोलचाल बन्द हो गई है। बोलचाल बन्द होने का कारण केवल यही है कि मेरी उनकी कहा-सुनी हो गई। कहा-सुनी होने का कारण केवल यही था कि ज्योतिषी जी जन्म-पत्री और मुहूर्त्त देखने के पक्ष मे थे और मुझे इस पर विश्वास नहीं। यद्यपि ज्योतिषी जी ने विश्वास दिलाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु "मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।" वह जैसे ही जैसे अपनी बात के पक्ष मे दलीलें पेश करते थे, वैसे ही वैसे मेरा विश्वास और भी दुर्वल होता जाता था। अब जरा ज्योतिषी जी की दलीलें सुनिए। मैंने पूछा—क्यों भई, जन्म-पत्री और मुहूर्त्त दिखाना क्यों आवश्यक है?

ज्योतिषी जी बोले—आवश्यक इसलिए है कि ज्योतिष-शास्त्र मे लिखा है कि विवाह में, यात्रा में, रण-यात्रा में, वाद-विवाद आरम्भ करने मे जन्म-पत्री और मुहूर्त्त दिखाना अत्यन्त आवश्यक है। ज्योतिष के आचार्यों की ऐसी ही आज्ञा है।

इस दलील को सुन कर ज्योतिष के प्रति मेरा विश्वास उतना ही दुर्वल हो गया जितना कि दुर्भिक्ष का मारा हुआ मनुष्य।

मैंने पुनः इस आशा से कि कदाचित् इस वार ज्योतिषी जी की दलील मेरे मरते हुए विश्वास के लिए चन्द्रोदय का काम करे, प्रश्न किया—परन्तु ऐसी आज्ञा क्यों निकाली गई?

ज्योतिषी जी बोले—इसलिए कि अशुभ मुहूर्त्त में कार्यारम्भ करके मनुष्य व्यर्थ की हानि न उठावे।

"तो क्या अशुभ मुहूर्त्त में कार्यारम्भ करने से हानि होती है?"

"बेशक!"

"और शुभ मुहूर्त्त में काम करने से लाभ होता है?"

"निस्सन्देह!"

"तब तो आपको सदैव लाभ ही लाभ होता होगा, हानि कभी न होती होगी?"

इस प्रश्न से ज्योतिषी जी कुछ सिटपिटाए, परन्तु आदमी बड़े चलते हुए हैं, अतएव तुरन्त सँभल कर बोले—हानि बहुत कम होती है और जब कभी होती है तो वह हमारे आलस्य के कारण होती है।

"आलस्य के कारण कैसे?"

"आलस्य में पड़ कर जब कभी बिना मुहूर्त्त देखे काम कर बैठते हैं तो हानि हो जाती है।"

"तो आप आलस्य को पास क्यों फटकने देते हैं?"

"आलस्य तो तुम जान लेओ मनुष्य का स्वभाव ही है।"

"और जन्म-पत्र दिखाने से क्या होता है?"

"जन्म-पत्र दिखाने से मनुष्य को अपने भविष्य का ज्ञान हो जाता है?"

"विवाह के पूर्व जो वर-कन्या का जन्म-पत्र मिलाया जाता है, इसका कारण क्या है?"

"जन्म-पत्र मिलाने से वर-कन्या में परस्पर प्रीति रहती है।"

"हिन्दुओं में—विशेषतः सनातनधर्मियों में—जन्म-पत्र मिला कर विवाह करने की प्रथा है, तो उनमें दम्पति में परस्पर प्रीति ही रहती है?"

"हाँ, और क्या।"

"क्षमा कीजिएगा, एक प्रश्न करता हूँ—आपका विवाह जन्म-पत्र मिला कर हुआ था या नहीं?"

"हुआ क्यों नहीं था।"

"तब आप में और पण्डिताइन में बहुधा जो जूती-पैजार हुआ करता है, उसका क्या कारण है?"

"अरे भई, यह तो घर-गृहस्थी में लगा ही रहता है—यह बात दूसरी है। ऐसा लड़ाई-झगड़ा अधिक महत्व नहीं रखता।"

"तो कदाचित् लड़ाई-झगड़े से आपका तात्पर्य यह है कि एक दूसरे का ख़ून कर डाले या घर छोड़ कर भाग जाय?"

"हाँ, पूरा लड़ाई-झगड़ा तो ऐसा ही होता है।"

"तब तो आपका जन्म-पत्र मिलाना सुफल है। यदि जन्म-पत्र मिला कर आपका विवाह न हुआ होता तो अब

तक या तो पण्डिताइन आपका ख़ून कर डालतीं या आप घर छोड़ कर भाग जाते। क्यों न ?"

"पण्डिताइन मेरा न क्यों कर देती और मैं घर छोड़ कर क्यों भाग जाता ?"

"इसलिए कि अभी जो उनमें आप में झगड़ा होता है तो उसमें बहुधा विजय पण्डिताइन की ही होती है। इससे प्रकट है कि पण्डिताइन आप पर ज़बर पड़ती हैं। ऐसी दशा में यदि जन्म-पत्र न मिलाया गया होता तो या तो आप गृह-युद्ध में काम आ जाते और या भाग खड़े होते; क्योंकि कमज़ोर आप ही हैं।"

"दुबे जी, आप मूर्ख ही रहे—बात करने का सलीक़ा भी न आया। ऐसा कहीं हो सकता है। हम कमज़ोर किस बात में हैं ? बात केवल यह है कि हम पुरुषों को स्त्रियों के मुँह लगना शोभा नहीं देता। इसलिए ग़म खाते हैं।"

"तो आपके जन्म-पत्र में यह लिखा होगा कि आप सदा ग़म ही खाते रहेंगे—चाहे जितने वेभाव के पड़ें ?"

"आपसे बात करना व्यर्थ है, आपकी ज़बान में लगाम नहीं है।"

"क्या ज़बान में लगाम होना आवश्यक है ?"

"आवश्यक क्यों नहीं है—इसके बिना तो काम ही नहीं चलता।"

"तब आपने पण्डिताइन के मुँह में दहाना क्यों न चढ़वाया—उनकी ज़बान तो बहुत खुली हुई है।"

"मैं कहता हूँ कि आप घूम-फिर कर पण्डिताइन को बीच में क्यों ले आते हैं। बड़े विचित्र आदमी हैं आप।"

"अरे भई, आपकी और उनकी जन्म-पत्री के सम्बन्ध में वार्तालाप हो रहा है कि नहीं—कहो हाँ।"

"मैं आपसे बात नहीं करना चाहता।"

"अच्छा जाने दीजिए, मैं यह प्रसङ्ग ही छोड़े देता हूँ। अब यह बताइए कि जन्म-पत्र मिलाने से और क्या लाभ होता है?"

"कुछ लाभ नहीं होता।"

"ऐसे खफ़ा हो गए?"

"आप बातें ही वैसी करते हैं।"

"उसके लिए तो क्षमा-याचना कर चुका। हाँ, तो जन्म-पत्री मिलाने से कन्या को और क्या लाभ होता है?"

"जन्म-पत्री मिलने से कन्या के असमय विधवा अथवा वर के विधुर होने का खटका नहीं रहता।"

"अच्छा, क्या यह बात भी है?"

"हाँ और क्या—यही तो सबसे बड़ी बात है।"

पण्डित जी की एक बीस वर्षीया विधवा कन्या थी। मैंने सोचा उसके सम्बन्ध मे कुछ कहूँ या न कहूँ; क्योंकि अब पण्डित जी मार बैठेंगे। अन्त में मुझसे न रहा गया।

मैंने ज़रा दूर हट कर, जिससे कि यदि पण्डित जी आक्रमण करें तो मैं भाग खड़ा होऊँ, पूछा—पण्डित जी, आपने मालती की जन्म-पत्री मिलाई थी कि नहीं ?"

पण्डित जी बड़े दुखी होकर बोले—मिलाई क्यों नहीं थी ; परन्तु जान पड़ता है लड़के की जन्म-पत्री भ्रष्ट थी—इष्ट-काल ठीक नहीं था, इससे यह गड़बड़ हो गया।

"परन्तु वैधव्य योग तो लड़की की जन्म-पत्री में होगा, लड़के से उसका क्या सम्बन्ध ?"

"लड़के का अल्पायु योग होने से कन्या का वैधव्य योग होता है।"

"तो मालती की जन्म-पत्री में वैधव्य योग नहीं है ?"

"जब मैंने जन्म-पत्री मिलाई थी तब तो था नहीं।"

"तो सम्भव है, उसके पश्चात् उत्पन्न हो गया हो। ऐसा होता है या नहीं ?"

"दुबे जी, आज तो आप बेतरह मेरे पीछे पड़े हैं—मैंने कौन सा अपराध किया है ?"

"पीछे-वीछे तो कुछ नहीं पड़ा हूँ, अपना सन्देह दूर कर रहा हूँ।"

"आपका सन्देह त्रिकाल में भी दूर नहीं हो सकता। ब्रह्मा भी आपका सन्देह दूर नहीं कर सकता।"

"क्यों-क्यों, ऐसा क्यों ?"

"आपके हृदय में विश्वास नहीं। जब तक विश्वास नहीं होता तब तक फल नहीं मिलता।"

"क्या यह बात भी है ?"

"हाँ, विश्वास मुख्य है।"

"तब फिर क्या चिन्ता है। अब तो मैं विश्वास कर ही नहीं सकता। जन्म-पत्र और मुहूर्त्त पर विश्वास करके व्यर्थ में एक बला मोल ले लेने में कौन सी बुद्धिमानी है। यह आपने अच्छा बता दिया।"

पण्डित जी मुँह फुला कर चल दिए। उस दिन से मुझसे बोलना बन्द कर दिया।

सम्पादक जी, सनातनधर्मियों में विवाह पर जन्म-पत्र मिलाने की प्रथा बड़ी हानिकर है। लाभ तो इससे रत्ती भर भी नहीं है। नित्य असंख्य कन्याएँ विधवा होती हैं—नित्य घरों में लड़ाई-झगड़े होते हैं। हानि इससे अलबत्ता बहुत बड़ी होती है। बहुधा बड़े-बड़े अच्छे सम्बन्ध जन्म-पत्र न मिलने के कारण रुक जाते हैं, और जन्म-पत्र मिल जाने से बड़े बुरे-बुरे सम्बन्ध हो जाते हैं। हमारे मुहल्ले में एक सज्जन रहते हैं। उनकी कन्या का सम्बन्ध एक ऐसे लड़के के साथ होता था जो सब तरह से अच्छा था। पढ़ा-लिखा भी काफी था, अच्छे खानदान का, नख-शिख का सुन्दर, धनाढ्य—सब बातें अच्छी थीं। परन्तु सम्बन्ध नहीं हुआ—क्यों ? इसलिए कि जन्म-पत्र नहीं मिला। मैंने जो

उनसे कहा कि आप जन्म-पत्र के चक्कर में मत पड़िए, तो वह कहते क्या हैं—वाह साहब! हमारे यहाँ आज तक कोई विवाह जन्म-पत्र मिलाए बिना हुआ ही नहीं, तब यह विवाह कैसे हो सकता है?

मैंने कहा—महाराज, आप बड़े ज्ञानी आदमी हैं। आप ही जैसे आदमी उन्नति तथा सुधार का गला रेतते रहते हैं।

इसके प्रतिकूल एक सज्जन अपनी लक्ष्मी-स्वरूपा कन्या का विवाह एक महा अयोग्य लड़के के साथ करने पर आमादा थे। मेरे प्रश्न करने पर बोले—क्या करें दुबे जी, कहीं जन्म-पत्री ही नहीं मिली। बड़ी कठिनता से इस लड़के से मिली है तो अब ऐसा अवसर क्यों छोड़ूँ?

मैंने पूछा—आप जन्म-पत्र ही देखते हैं या लड़की का भविष्य भी देखते हैं?

यह सुन कर वह बड़ी निश्चिन्ततापूर्वक बोले—जब जन्म-पत्र मिल गया तो भविष्य अच्छा ही है।

इस मूर्खता का कुछ ठिकाना है? जो बात प्रत्यक्ष देख रहे हैं उस पर विश्वास नहीं। सरासर देख रहे हैं कि लड़का कुरूप है; पढ़ा-लिखा भी कुछ नहीं; परन्तु इसकी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं—जन्म-पत्र मिल गया, बस सब ठीक है।

एक बड़े दिग्गज ज्योतिषी से इस सम्बन्ध में बातचीत हुई तो वह बोले—आजकल शुद्ध जन्म-पत्र बनते कहाँ हैं? जन्म-काल का ठीक पता तो लगता ही नहीं। घड़ियों से

जन्म-काल देखा जाता है। घड़ियाँ ठीक रहतीं नहीं, तब जन्म-पत्र की विधि कैसे मिल सकती है?

यह दशा है। एक ओर यह भी कहते हैं कि जन्म-पत्र ठीक नहीं बनते, दूसरी ओर बिना मिलाए काम भी नहीं चलता। पुरानी लकीर पीटना आवश्यक है—चाहे उसमें कुछ सार हो या न हो।

और सुनिए—बहुधा लोग विवाह करने के लिए नक़ली जन्म-पत्र बना लेते हैं। जब देखा कि असली जन्म-पत्र नहीं मिलता तो ऐसा नक़ली जन्म-पत्र बना लेते हैं जो मिल जाता है। भला इससे क्या लाभ? यदि जन्म-पत्र का झगड़ा ही दूर कर दें तो क्या हर्ज है? परन्तु यह न करेंगे—नाक जो कट जायगी। जन्म-पत्र मिलना अवश्य चाहिए, चाहे जैसे मिले—चाहे नक़ली मिले या असली। अपने आपको धोखा देने का इससे बढ़िया उदाहरण और क्या हो सकता है। सम्पादक जी, हिन्दू-जाति में सनातनधर्मी लोग जन्म से लेकर मरण तक अपने आपको धोखा देने में ही लगे रहते हैं। किसी जाति का पतन इससे अधिक और क्या हो सकता है?

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)
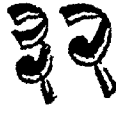
अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

अपनी पिछली चिट्ठी में मैंने आपसे वादा किया था कि अगली चिट्ठी में नाट्य-समिति के सम्बन्ध में लिखूँगा। सो लिखता हूँ, ज़रा ग़ौर से पढ़िएगा :—

मैं ठीक साढ़े आठ बजे उन महोदय के पास, जिन्होंने मुझे नाटक में ले चलने के लिए कहा था, पहुँच गया। उन्होंने मुझे देखते ही कहा—ओहो ! आप तो बड़ी जल्दी आगए !

मैं—जी, साढ़े नौ बजे से नाटक आरम्भ होगा; इसलिए ठीक समय पर पहुँचना चाहिए।

वह—मेरी तो सलाह यह है कि हम लोग एक-एक नींद ले लें तब चलें।

मैंने विस्मित होकर पूछा—यह क्यों ?

वह—जनाब, यह नाट्य-समिति का नाटक है—ग्यारह बजे के पहले आरम्भ नहीं होगा। यदि दर्शकों पर कुछ दया आगई तो शायद दस बजे तक आरम्भ कर दें।

मैं—और खतम कब होगा ?

वह—यदि सब प्रकार कुशल रही तो चार-पाँच बजे तक समाप्त हो जावेगा।

'यदि सब प्रकार कुशल रही' इस वाक्य पर मैं चौंका। मैंने पूछा—क्यो साहब, क्या वहाँ फौजदारी भी होगी?

वह—अजी वहाँ बड़े-बड़े रङ्ग होंगे, आप चलिए तो सही।

सच मानिएगा सम्पादक जी, मेरी इच्छा हुई कि घर लौट चलूँ। मैंने सोचा, कहीं वही मसल न हो कि 'करघा छोड़ तमाशे जाय, नाहक़ चोट जुलाहा खाय।' मैंने उनसे कहा—क्यों साहब, अगर वहाँ कुछ खटके की बात हो तो मैं घर लौट जाऊँ। मैं ऐसे तमाशे से बाज़ आया। तमाशे के लिए प्राण नहीं देने हैं। मैं अपनी पत्नी का एकलौता पति ठहरा, इसलिए मै मरने से बहुत डरता हूँ।

मेरी यह बात सुन कर वह बहुत हँसे, बोले—आप घबराइए नहीं, आप पर कुछ आँच नहीं आवेगी।

ख़ैर साहब, ठीक नौ बजे हम लोग नाटक-स्थान में पहुँच गए। नाटक एक थिएटर-हॉल मे था। मैंने बाहर ही से एक दृष्टि स्टेज पर डाली। पहले ड्राप-सीन के दर्शन हुए। ड्राप-सीन अच्छा था। उसको देखने से यह पता तो अवश्य लगता था कि जब यह नया बना होगा उस समय इस पर कोई चित्र अवश्य रहा होगा। इतना ही क्या कम था। थिएटर-हॉल दर्शकों से ठसाठस भरा था। मैंने अपने

साथी से कहा—नाटक अवश्य अच्छा होगा, अन्यथा इतनी भीड़ न होती।

मेरे साथी ने कहा—इनमें अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें किसी न किसी प्रकार रात काटनी है, इसलिए यहीं चले आए। यदि टिकिट होता तो इनमें से बहुत थोड़ी मूर्त्तियाँ दिखाई पड़तीं।

मेरे साथी को देखते ही एक नवयुवक ने उन्हें बड़े आदर के साथ सबसे आगे वाले दर्जे में ले जाकर बिठाया, मैं भी उनकी दुम में बँधा हुआ चला गया और एक कुर्सी पर डट गया।

यवनिका पतन के दोनों ओर से कुछ-कुछ देर पश्चात् एकाध मूर्त्तियाँ झाँकने लगती थीं। झाँकने वालों के मुख पर एक गर्व की छटा दिखाई पड़ती थी। वे इस प्रकार दर्शकों की ओर देखते थे जैसे कोई स्वर्ग का प्राणी नरक में पड़े हुए जीवों को देखता हो। मैंने अपने साथी से पूछा—क्यों, ये लोग इस प्रकार क्यों झाँकते हैं, यह तो बड़ा भद्दापन है। उन्होंने कहा—इनके कुछ मित्र दर्शकों में होंगे, अतएव ये उन पर यह प्रकट करते हैं कि हम भी स्टेज के अन्दर हैं।

मैं—स्टेज के अन्दर होना क्या कोई खास मानी रखता है?

वह—जी हाँ, स्टेज के अन्दर होना बड़े सौभाग्य का सूचक है, हर एक को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

कुछ देर तक हम लोग बैठे जम्हाइयाँ लेते रहे। इसके पश्चात् मेरे साथी ने कहा—'आओ, चलो ज़रा स्टेज के भीतर चलें, देखें वहाँ क्या रङ्ग है।' यह कह कर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और चले। स्टेज-द्वार पर बड़ा कड़ा पहरा था; पर मेरे साथी से सब परिचित थे, इसलिए किसी ने उन्हें रोका नहीं। भीतर जाकर देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो ग्रहण पड़ रहा है। प्रत्येक आदमी घबराया हुआ था, हर एक के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। कोई लहँगा पहन रहा था, कोई साड़ी सँवार रहा था। कोई मुख पर पाउडर पोत रहा था, कोई साफा बाँध रहा था। जो एक्टर थे उनके मिज़ाज सातवें आसमान पर थे, किसी से सीधे मुँह बात ही न करते थे। इस समय संसार के सब प्राणी उनकी दृष्टि में उनसे हेच थे। मेरे साथी ने एक महोदय से, जो कदाचित् प्रबन्धकर्त्ता थे, पूछा—'क्या देर-दार है ?' उन्होंने कहा—'बस अब कुछ देर नहीं, दस-पाँच मिनट की देर है।' इतना कह कर उन्होंने ऊपर की ओर देखा और दृश्य परिवर्त्तन करने वाले से कहा—'ड्रॉप के पीछे महल का पर्दा छोड़ो।' कुछ क्षण मे खर-खर करता हुआ एक पर्दा नीचे आया। उसे देखते ही वह झुँझला कर बोले—'अबे ओ गधे, यह तो जङ्गल है, महल छोड़ महल, बहरा है क्या ?' उसी समय एक दूसरे व्यक्ति ने कहा—'अजी थोड़ी सेफ्टीपिनें तो मँगाइए, काम रुका है।' चलिए,

वे पर्दा छुड़वाना तो भूल गए, सेफ्टीपिनों की तलाश में पड़े। वे सेफ्टीपिनों का प्रबन्ध करने चले ही थे कि बीच में एक दूसरे महाशय से मुठभेड़ हो गई। उन्होंने बड़े ताव में कहा—'जनाब, हारमोनियम-मास्टर का तो अभी तक पता नहीं, खेल आरम्भ होने को है, उन्हें शीघ्र बुलवाइए।'

अब क्या था, सेफ्टीपिनें भी ग़ायब हो गईं, और हारमोनियम-मास्टर की तलाश होने लगी। इसी प्रकार बेचारे प्रबन्धकर्त्ता की दशा फ़ुटबॉल की सी हो रही थी—कभी इधर जाते, कभी उधर। इस सुप्रबन्ध को देख कर मेरा तो सर चकराने लगा। मैंने अपने साथी से कहा—भई, मैं तो बाहर जाता हूँ, यहाँ यदि ज़रा देर और ठहरूँगा तो सर दुखने लगेगा। यहाँ की चिल्ल-पों और भाग-दौड़ से मेरा दम उलझता है।

मेरे साथी ने कहा—अच्छा, आप बाहर चलिए, मैं अभी आता हूँ।

मैं पुनः अपने स्थान पर आकर बैठ गया। मेरे लौटने के दस मिनट पश्चात् पहली घण्टी हुई। पहली घण्टी होते ही दर्शकों की जान में जान आई, हर्ष के मारे तालियाँ पीटने लगे। उस समय दस बजे थे। थोड़ी देर में मेरे साथी भी आगए। उन्होंने मुझसे पूछा—देखा आपने?

मैंने कहा—ये लोग नाटक खेलने के पहले ही इतने परेशान हो रहे हैं तो नाटक क्या ख़ाक खेलेंगे?

उन्होंने हँस कर कहा—नाटक जैसा खेलेंगे, वह भी आप देखिएगा।

थोड़ी देर में एकबारगी स्टेज के अन्दर हल्ला हुआ—आए-आए, आगए, आगए!

मैं चौंक पड़ा कि, ऐं! यह आए-आए कैसी। होली तो अभी बहुत दूर है—इस बेवक्त की शहनाई का क्या अर्थ?

मेरे साथ के सज्जन उठ कर गए, कुछ क्षण में लौट कर उन्होंने कहा—'हारमोनियम-मास्टर आगए।' मैंने कहा—'खासे रहे, हारमोनियम-मास्टर क्या आए, भूचाल आगया, यहाँ सब जाङ्गलू ही हैं। स्टेज क्या, उल्लू के पट्ठों का दरबार है।' खैर साहब—ठीक दस बजे नाटक आरम्भ हुआ।

पहला दृश्य—राजा-रानी की बातचीत। रानी साक्षात् बुखार! राजा साहब के शरीर पर कपड़े ऐसे प्रतीत होते थे मानों लकड़ी के कुन्दे पर टँगे हैं। दोनों बातचीत इस प्रकार करते थे मानों चार दिन के फ़ाक़े हुए हों। पखवाइयो के दोनों ओर से आध-आध दर्जन खोपड़ियाँ झाँक रही थी। एक महाशय हाथ में पुस्तक लिए इस ढब से खड़े थे कि दर्शक उन्हे स्पष्ट देख सकें कि अमुक महाशय पुस्तक लिए खड़े हैं और 'प्राम्पट' कर रहे हैं—और क्या, यह ठाठ हैं। एक्टर का कथन चाहे एक बार आरचेस्ट्रा वालों को भी न सुनाई पड़े; परन्तु प्राम्पटर महाशय जो कुछ कहते थे, वह चवन्नी वाले दर्जे तक सुनाई देता था।

अधिकांश एक्टरों की पोशाकें देख कर यही अनुमान लगाया जा सकता था कि गुदड़ी बाज़ार से किराए पर लाई गई हैं। गाने-बजाने की यह दशा कि हारमोनियम, तबले तथा गाने-वाले में होड़ चलती थी। तीनों की यह चेष्टा कि एक दूसरे से दो क़दम आगे ही रहे—और क्या, पीछे अथवा बराबर रहना कायरों का काम है।

प्रथम अङ्क का चौथा दृश्य—मन्त्री का प्रवेश। प्राम्पटर ने राजा साहब को प्राम्पट किया कि—'आइए मन्त्री जी पधारिए।' मन्त्री जी समझे कि हमसे कहते हैं। अतएव वे स्वयम् ही घबराकर बोल उठे—'आइए मन्त्री जी, पधारिए!'

दूसरे अङ्क का दूसरा दृश्य—मन्त्री जी का कथन था; पर मन्त्री जी बोलने से असहयोग किए हुए चुपचाप खड़े थे। प्राम्पटर ने उनका कथन बतला कर कहा—'कहो, कहते क्यों नहीं।' मन्त्री जी आँखें नीली-पीली करके धीरे से बोले—(इतनी बुद्धिमत्ता की; पर यार लोगों ने सुन ही लिया) कहें क्या पत्थर, याद हो तब तो कहें।

दूसरे अङ्क का पाँचवाँ दृश्य—दृश्य परिवर्त्तन करने वाले ने भूल से पटाक्षेप करने की अपेक्षा पटोत्तोलन कर दिया। दर्शकों ने देखा—रानी जी ख़ाली चोली पहने, नङ्गे सिर, टाँगों में ड्रासं पहने खड़ी, मिट्टी के हुँडे में पानी पी रही हैं। ज्योंही पर्दा उठा, त्योंही वे हुँडा फेंक कर भीतर भागीं।

तीसरे अङ्क का पहला दृश्य—ड्राप के पीछे रानी की एक सहेली हाथ जोड़े तैयार खड़ी थी। सहेली के पीछे महल क पर्दा था, परन्तु ड्राप तथा महल के पर्दे के बीच में इतनी कम जगह थी कि सहेली ड्राप से बिलकुल सट कर खड़ी हुई थी। ड्राप जो उठा तो नीचे से ड्राप में साड़ी का लटकता हुआ अग्र-भाग लिपट गया। ड्राप साड़ी लपेटता हुआ ऊपर चला गया। दर्शकों ने देखा, एक लँगोटबन्द ज्वान चोली पहने, सिर पर साड़ी ओढ़े खड़ा है—नीचे की नग्न टाँगें काली और हाथ श्वेत। यार लोगों ने फब्ती कसी—'भई वाह, क्या अबलक़ सहेली दिखाई है।' एक साहब बोले—'अच्छा पर्दा उठाया।' दूसरे ने कहा—'पर्दा उठाया कि पर्दाफाश कर दिया।' जल्दी से पुनः ड्राप डाल दिया गया। मैंने अपने साथी से कहा—बस हद हो गई, अब तो यहाँ एक क्षण भी ठहरना दूभर है।

उसी समय हम लोग उठ कर चल दिए। रास्ते में मेरे साथी ने कहा—'देखा आपने, नाट्य-समिति का नाटक।' मैंने कहा—'हाँ देखा, परन्तु सब नाट्य-समितियाँ ऐसी नहीं होतीं। ऐसी नाट्य-समितियाँ भी हैं, जिनमें पढ़े-लिखे लोग एक्टिङ्ग करते हैं। उनकी एक्टिङ्ग बहुत अच्छी होती है। उनके पास सामान चाहे भले ही न हो; परन्तु कम से कम जितना करते हैं वह अच्छे ढङ्ग से।' मेरे साथी ने कहा—'ऐसी समितियाँ हैं अवश्य; परन्तु बहुत ही कम हैं।

अधिकांश में आप इसी तरह की बातें पाएँगे।' मैंने कहा—
'हाँ, यह कथन आपका ठीक है।' इसके पश्चात् मैं उनसे
विदा हुआ।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

३३

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

इस बार मुझे एक ऐसी वारात में जाना पड़ा, जिसमें लड़के के पिता से लेकर ख़िदमतगार तक सब आर्यसमाजी। मुझे यह आशा थी कि आर्यसमाजियों की बारात में सनातनधर्मियों के जैसे ढोंग तथा रीति-रिवाज न होंगे। बात भी ऐसी ही निकली। उनमे वे बातें नहीं थीं, परन्तु जो कुछ था वह उन बातो से भी बाज़ी मार ले गया। मैं तो देख कर चकित रह गया। उसे देख कर तो किसी भी व्यक्ति की यह धारणा हो सकती थी कि अधिकांश आर्य-समाजी दम्भी, अहङ्कारी, बक्की तथा झगड़ालू होते हैं।

अच्छा, अब बारात का वर्णन सुनिए। नियुक्त समय पर मैं स्टेशन पहुँचा। मेरी आँखें बारात की खोज कर ही रही थीं कि कानो मे "महाशय जी" "महाशय जी" का स्वर सुनाई पड़ा। बस फिर क्या था—समझ में आ गया कि बारात उसी स्थान पर है, जहाँ से यह आवाज़ आ रही है। आवाज़ की सीध पर चला तो बारात के ठीक बीचोबीच पहुँच गया। कुछ देर तक तो वहाँ "महाशय जी" के अति-

रिक्त कुछ सुनाई न पड़ा, तदुपरान्त यह पता लगा कि किसी विषय पर गरमागरम बहस हो रही है। एक अधेड़ महाशय जी कह रहे थे—परकीरती का क्या नेम है ? आपको मालूम है ?

मैंने पूछा—क्यों महाशय जी, यह परकीरती कौन है ?

इस पर वह मुस्करा कर बोले—आप इतना भी नहीं जानते। परकीरती वह है, जिसे आप नेचर कहते हैं—परकीरती के मानी क़ुदरत।

मैंने कहा—मैं परकीरती को नेचर कदापि नहीं कहता। नेचर तो परकीरती का नेम (नाम) है—जो आप अभी पूछ रहे थे।

इस पर वह पुनः इस प्रकार हँसे मानो मैं एक अपढ़ गँवार था। उन्होंने कहा—अरे भाई, नेम से मेरा मतलब नाम से नहीं है, नेम क़ायदे को कहते हैं—या रूल कहो, बात एक ही है।

मैंने कहा—आपका मतलब समझना बड़ी टेढ़ी खीर मालूम होता है। देखिए कुछ दिन साथ रहा तो अभ्यास हो जायगा।

जब तक गाड़ी नहीं आई तब तक बहस बराबर जारी रही। गाड़ी के आने पर थोड़ी देर के लिए बहस जान-बूझ कर बन्द कर दी गई। गाड़ी में बैठ जाने पर फिर बहस आरम्भ हुई। एक बड़े पुराने महाशय जी, जिनका सारा

सिर श्वेत हो गया था, बोले—भाई, उस बहस का क्या नतीजा निकला

एक नवयुवक महाशय जी बोल उठे—अभी तक तो कुछ नहीं निकला

मैंने कहा—तो छोड़िए नहीं, उसे निकाल ही लीजिए, रह गया तो सम्भव है कुछ हानि पहुँचावे।

वृद्ध महाशय जी ने मेरी ओर घूर कर देखा। उसी समय मैंने एक ज़ोर की जँभाई ली। वृद्ध महाशय जी अपना पोपला मुँह जल्दी-जल्दी चलाते हुए दूसरी ओर देखने लगे। मैंने मन में सोचा—दाँत नहीं हैं इससे कलेजा मसोस कर रह गया, अन्यथा कच्चा चबा जाता। चलो, जान बची लाखों पाए। इनके दाँत हमारे ही भाग्य से टूट गए।

एक अन्य महाशय जी मुझसे बोले—क्यों महाशयजी—

उनकी बात पूरी होने के पूर्व ही मैं बोल उठा—आप कृपया मुझे महाशय जी न कह कर दुबे जी, अथवा केवल विजयानन्द कहे।

वह बोले—क्यों, ऐसा क्यों? क्या महाशय जी कोई ख़राब शब्द है?

मैंने कहा—खराब बिलकुल नहीं है। किन्तु बात यह है कि यहाँ काफी से ज्यादा महाशय जी जमा हो गए हैं, इसलिए अधिक संख्या बढ़ाना व्यर्थ है।

मेरा यह उत्तर सुन कर उन्होंने मौन धारण करना ही उचित समझा। इसके पश्चात् फिर कोई बहस न हुई—हाँ, दो-दो, तीन-तीन व्यक्ति धीरे-धीरे परस्पर बातें करते रहे। मैंने देखा कि इन लोगों को बहस करने की बीमारी है। जिस दिन कहीं बहस करने को न मिले, उस दिन भोजन न पचे। जहाँ किसी ने कोई बात आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध कही, बस तुरन्त उसका टेटुवा लिया। दुर्भाग्य से दो-तीन सनातनधर्मी इनके बीच में आ फँसे थे, बस उन्हीं से इन लोगों की बहस हुआ करती थी। इनमें से एक पण्डित थे, जोकि कर्म-काण्ड कराने के लिए साथ आए थे। इन बेचारों की पूरी छीछालेदर थी। पुरानी चाल के सीधे-सादे पण्डित—बहस-मुबाहिसे से कोसों दूर रहने वाले, परन्तु महाशय जी गण इन्हें ठोंक-पीट कर वैद्यराज बनाने की धुन में थे।

खैर साहब, बारात निश्चित स्थान पर पहुँची। स्टेशन पर जो लोग स्वागत करने आए थे, उन्हीं से कुछ महाशय लोग बहस करने पर कटिबद्ध हो गए। लड़की वाले की ओर के एक आदमी ने कहीं कह दिया—"आप लोग जरा जल्दी करें—गाड़ियाँ खड़ी हैं, सवार हो जाइए—देर करने से विवाह की लग्न निकल जायगी।" बस उसका इतना कहना था कि दो-तीन महाशय जी भूत की तरह उसके पीछे लग गए। एक बोला—"क्यों साहब, लग्न किस

चिड़िया का नाम है ?" दूसरा बोला—"लग्न निकल जायगी तो क्या होगा ?" तीसरे ने कहा—"किसी विशेष लग्न में विवाह होने की बात किस ग्रन्थ में लिखी है ?" वह बेचारा हक्का-बक्का हो गया। परन्तु वह भी था बड़ा चलता हुआ। उसने तुरन्त ही हवास ठीक करके कहा—"जान पड़ता है आपके यहाँ विवाह नहीं होता, निकाह होता है।" इतना कह कर वह वहाँ से टल गया। महाशय जी लोग "ज़रा सुनिए तो" कहते रह गए।

एक बोला—इन्हें पहचान लिया है न ? जनवासे में चल कर इन्हें समझेंगे।

बारात जनवासे पहुँची। वहाँ पहुँच कर सब लोग अपनी-अपनी जगह और असबाब सँभालने में लग गए, इससे बहस बन्द रही।

लड़की वाला सनातनधर्मी था और विवाह ठेठ सनातनधर्मी रीति के अनुसार करना चाहता था। इधर महाशय जी गण वैदिक रीति के अनुसार विवाह करना चाहते थे। इस पर बड़ा वाद-विवाद रहा। इस समय कुछ महाशय जी लोगों की तत्परता देखने योग्य थी।। बाँहें समेट-समेट कर बहस करने के लिए आगे बढ़े चले आते थे। बातें इतने अधिकारपूर्ण ढङ्ग से कहते थे कि मानों अल्लाह मियाँ के छोटे भाई हैं। बात-बात में वेदों का हवाला देना तो इन लोगों का तकिया-क़लाम सा था। परन्तु ईश्वर झूठ न बुल-

आए, उनमें से अधिकांश ऐसे थे, जिन्होंने वेदों की कभी सूरत भी न देखी थी।

परन्तु लड़की वाला टस से मस न हुआ। उसने स्पष्ट कह दिया कि विवाह सनातनधर्म के अनुसार होगा। इसी समय एक महाशय जी बोल उठे—अच्छा, इस विषय पर शास्त्रार्थ हो जाय।

मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—आप बहुत ठीक कहते हैं। शास्त्रार्थ अवश्य होना चाहिए—विवाह हो चाहे न हो। यदि आप लोगों ने यह मसला तय कर दिया कि विवाह वैदिक रीति से होना चाहिए अथवा सनातनधर्मी रीति से तो बड़ा उपकार होगा। ऐसे महत्वपूर्ण मसले को सुलझाने के लिए यदि विवाह भी रोक दिया जाय तो कोई बुरी बात नहीं।

इस पर एक महाशय जी बड़े प्रसन्न हुए। बोले—आप ठीक कहते हैं दुबे जी। ऐसा अवश्य होना चाहिए। इस विषय पर आर्यसमाजी और सनातनधर्मी वर्षों से झगड़ रहे हैं—आज यह तय हो जाना चाहिए।

मैंने कहा—तो बस श्रीगणेश—अरे तोबा, क्षमा कीजिएगा, भूल गया-वेद भगवान् का नाम लेकर आरम्भ कीजिए। विवाह इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि यह बात है।

लड़की का पिता बोला—यह कुछ नहीं होगा। मैंने पहले

ही यह कह दिया था कि विवाह सनातनधर्म की रीति से होगा। यदि आपको नहीं करना था तो सम्बन्ध क्यों किया ? आप ख़ूब शास्त्रार्थ कीजिए, मैं मना नहीं करता, परन्तु यदि विवाह का मुहूर्त टल गया तो फिर मैं विवाह नहीं करूँगा।

इतना कह कर लड़की का पिता वहाँ से चला गया।

लड़के का बाप बोला—तो ख़ैर, जैसा वह चाहें वैसा ही होने दो। उन्हे अज्ञान में पड़े रहना ही पसन्द है तो पड़ा रहने दो—हमारा क्या बिगड़ता है। हमें तो अपने काम से काम है।

दो-चार महाशय, जो शास्त्रार्थ का आनन्द लूटने के लिए उतावले हो रहे थे, बोले—शास्त्रार्थ होने में हर्ज क्या है, हो जाने दीजिए।

"विवाह का मुहूर्त जो टल जायगा !"—लड़के का पिता बोला।

"टल जाने दीजिए। मुहूर्त को यहाँ मानता ही कौन है ?"

"लड़की का पिता क्या कह गया है—सुना था ?"

"यह सब कोरी धमकी है।"

इतने में दूल्हा मियाँ ने भी कान फटफटा डाले और कहा—नहीं, यह बेजा बात है। जैसा वह कहें वैसा ही करना चाहिए।

मैंने कहा—दूल्हा ठीक कहते हैं। इस झगड़े में माथे

इन्हीं के जायगी—आप लोग तो शास्त्रार्थ करके घर की राह लेंगे। आप लोग चाहे शास्त्रार्थ करें या पुराणार्थ, परन्तु इन बेचारों की पकी-पकाई कढ़ी न बिगाड़ें!

मेरी बात सुन कर दूल्हा जी खाँसते हुए वहाँ से खिसक गए।

अन्त में सनातनधर्म की रीति के अनुसार विवाह करना निश्चित हो गया। यद्यपि इस पर कुछ महाशय जी बहुत भुनभुनाए। एक महाशय बोले—जनाब, यही कमज़ोरी तो हम लोगों का नाश किए हुए है। लड़के का विवाह क्या होता नहीं—यहाँ न होता, दूसरी जगह होता।

दूसरे दिन जनवासे में यह सूचना दी गई कि आज गाना होगा। मैंने सोचा चलो अच्छा है—कुछ देर तबीयत बहलेगी। यहाँ तो जब से आए हैं तब से शास्त्रार्थों के मारे नाक में दम है। शाम को एक महाशय जी आए। उन्होंने एक ऊँचे स्टूल पर हारमोनियम रक्खा और बोले—सज्जनो, सनातनधर्मी कृश्न को औतार मानते हैं—तो अगर उन्हीं की तरह हम लोग भी मेहरिशी को औतार मानें तो क्या हर्ज है? कृश्न ने गीता लिखी, मेहरिशी ने सत्यारथ-परकाश लिखा। इसीलिए तो कहा है—(गाते हुए) आ-आ-आ—"देखो तो स्वामी कैसा उपकार कर गया है। एजी उपकार कर गया है—हाँ-हाँ उपकार कर गया है।" सज्जनो! सत्यारथ-परकाश के मानिन्द पुस्तक दुनिया के पर्दे पर नहीं

है। अहाहाहा—पुस्तक क्या है, वेदों का सार है, ज्ञान का भण्डार है, अज्ञानियों के लिए खुदा की मार है और जो उस पर अमल करे उसका बेड़ा पार है। सुनिएगा—कहते हैं—"(गाते हुए) स्वामी जी ने कर दिया अन्धकार को दूर।" वाहवा, क्या कविताई है—क्या शायरी है! स्वामी जी ने अन्धकार को दूर कर दिया।

मैं बोल उठा—हाँ, जरा फिर कहिए—क्या कर दिया?

स्वामी ने कर दिया अन्धकार को दूर।
अब भी जो देखे नहीं वह है पूरा सूर॥

मैं चिल्ला उठा—"वाहवा, क्या कविताई है—कविताई क्या है, शायरी की भौजाई है। ऐसी कविताई अब तक सुनने में नहीं आई है। ऐसा स्वाद आया मानों मलाई है।" गायक महोदय रेशाखत्मी होकर बोले—अजी, इसके सामने मलाई की क्या हैसियत है—यह तो अमृत है, आवेहयात है।

सम्पादक जी, कहाँ तक कहूँ—इसी प्रकार वह कमबख्त घण्टे भर तक झख मारता रहा। कभी गाता और कभी व्याख्यान देने लगता। हारमोनियम भी वही अमृतसरी भोंपू था, जिसका एक सुर दबाए तो अन्य चार स्वर अपने आप ही चिल्लाने लगें। मेरा तो दिमाग़ परेशान हो गया। सङ्गीत की दुर्दशा जैसी इन आर्यसमाजी उपदेशकों ने की है, वैसी कदाचित् ही किसी ने की हो। मैंने एक महाशय जी के कान में कहा—मेरी सलाह तो यह है कि ऐसे में आर्य-

समाज का सालाना जलसा कर डालिए। आदमी भी काफ़ी हैं और फ़ुरसत भी ज़रूरत से ज्यादा है।

वह बोले—आप भी क्या मज़ाक़ करते हैं, यह जलसे का मौक़ा है। यह तो गाने-बजाने, आनन्द करने का मौक़ा है।

मैंने कहा—तो क्या आप इसी को गाना-बजाना और आनन्द करना समझते हैं?

"क्यों, और आप चाहते क्या हैं? क्या रण्डी का नाच हो?"

"आपका कथन भी ठीक है। दुनिया में गाने-बजाने और आनन्द करने के ये दो ही ढङ्ग हैं—या तो रण्डी या फिर उपदेश और व्याख्यान। किसी कमबख़्त ने कोई तीसरा ढङ्ग ईजाद ही नहीं किया।"

बिदा वाले दिन लड़की वाले के द्वार पर बिदाई की रस्में पूरी की जा रही थीं। उसी समय एक महाशय जी खड़े हो गए और बोले—"सज्जनो, मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ। उससे आप लोगों का लाभ कम है, परन्तु वर और कन्या का लाभ अधिक है। ईश्वर ने स्त्री और पुरुष का जोड़ा क्यों बनाया है? इसलिए कि अच्छी सन्तान पैदा हो। सन्तान कैसे पैदा होती है—स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य मिलने से।" इसके पश्चात् उपदेशक जी ने लड़के-लड़की को समझाने के लिए यह बताना आरम्भ किया कि प्रसङ्ग कैसे करना चाहिए, कब करना चाहिए—इत्यादि-

इत्यादि। वहाँ पर लड़की का पिता, भाई तथा अन्य बड़े लोग बैठे थे—पर्दे के पीछे स्त्रियाँ बैठी थीं, परन्तु उस दुष्ट ने कुछ परवा न की। बकता ही गया। वे बेचारे चुपचाप सिर झुकाए सुनते रहे—आखिर करते क्या ?

मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने सोचा, यह उपदेशक है या घसियारा, जिसे साधारण अवसर-ज्ञान भी नहीं। लानत है ऐसे उपदेश पर। परन्तु महाशय जी गण बड़े प्रसन्न थे कि क्या सुन्दर उपदेश हो रहा है।

उपदेशक जी जब झख मार कर बैठे, तो मैंने उनसे कहा—आप धन्य हैं। यदि आप-जैसे उपदेशक हों तो फिर लोग ब्रह्मचारी, तेजस्वी और पराक्रमी सन्तान के अतिरिक्त और किसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें।

वह ऐसे उल्लू के प ्ठे थे कि मुस्करा कर बोले—आपने अभी मेरा व्याख्यान सुना कहाँ है ! यहाँ व्याख्यान देने का समय कहाँ था ? समय होता तो मैं सुनाता।

मैंने कहा—जितना सुना वही जन्म-भर आपका स्मरण दिलाता रहेगा।

बिदा की रसूमात में भी बड़ा झगड़ा हुआ। महाशय जी गण अपने मतलब की बात तो बिना कान-पूँछ हिलाए मान लें और जो लड़की वाले के मतलब की हों उसे कह दें—“यह सब ढोंग है, हम लोग इसे नहीं मानते। यदि वैसे न मानो तो बहस कर लो।” लड़की वाले बेचारे की नाक मे

दम होगया। कहाँ तक बहस करे और किस-किस से बहस करे। वह बेचारा तो विवाह के प्रबन्ध के मारे परेशान था।

सम्पादक जी, इस प्रकार जितने दिनों बारात रही, महाशय जी गए शास्त्रार्थ, उपदेश और व्याख्यान की ही धुन में रहे। बहस करने के लिए लोगों को पकड़ते फिरते थे। इस सम्बन्ध में नवयुवकों का जोश देखने ही योग्य था। वे प्रत्येक समय आस्तीनें समेटे रहते थे। मतभेद होने पर बड़े से बड़े विद्वान् को उल्लू और गधा की उपाधियों से अलङ्कृत कर देना उनके लिए एक साधारण बात थी।

जिस दिन बारात विदा हुई उस दिन मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया। घर आया तो दो दिन तक रात को स्वप्न में शास्त्रार्थ, उपदेश और व्याख्यान ही सुनता रहा। ऐसा बारात से भगवान् बचावे। बारात थी या व्याख्यानदाताओं और उपदेशकों का अखाड़ा। ग़नीमत यही हुई कि लात-जूता नहीं चला।

अब जब कभी किसी बारात में जाऊँगा, तो पहले यह पूछ लूँगा कि आर्यसमाजियों की बारात तो नहीं है? यदि आर्यसमाजियों की बारात हुई तो कास्टर-ऑयल पीकर पड़ा रहूँगा। यह मञ्जूर है, परन्तु बारात भूल कर भी न जाऊँगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

मिश्र जी के पुत्र के विवाह का निमन्त्रण पाकर मैंने उनके यहाँ जाना निश्चय कर लिया। दूसरे दिन शाम को पौने सात बजे की गाड़ी से जाना था। पहले तो मैंने सोचा कि हटाओ भी, गोली मारो, आजकल विवाह-बारातों में धरा ही क्या है। भई, साफ़ बात तो यह है कि बिना वेश्या-नृत्य के विवाह में आनन्द ही नहीं आता। जो लोग वेश्या-नृत्य के विरुद्ध हैं, वे हुआ करें, इससे मुझे कोई मतलब नहीं; अपनी-अपनी रुचि और अपने-अपने विचार हैं।

मैं रात को भोजन करने के पश्चात् जब शय्या पर लेटा तो नियम पालनार्थ सोने के पहले कुछ देर पड़े-पड़े सोचता रहा कि आख़िर मिश्र जी ने बारातियों के मनोरञ्जनार्थ क्या प्रबन्ध किया। बन्दर नचावेंगे या भालुओं का युद्ध करावेंगे, आखिर कुछ तो प्रबन्ध करना ही चाहिए। यही सोचते-सोचते सो गया।

*　　　*　　　*

मिश्र जी के कमरे में आठ-दस आदमी बैठे थे। कोई

बड़ा गम्भीर विषय छिड़ा हुआ था, क्योंकि सब लोग सिर हिला-हिला कर लाल बुझक्कड़ों की तरह कुछ कह रहे थे। मैं भी एक कोने में जाकर बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात् मिश्र जी ने कहा—हाँ, तो आप लोगों ने क्या सोचा ?

एक महाशय बोल उठे—सोचा क्या, बस रहसधारियों को बुलवाइए।

यह सुन कर मुझसे चुप न रहा गया, झट बोल उठा—अजी रासधारी तो ताथेइया के अतिरिक्त और कुछ जानते नहीं। वही पुरानी बातें, वही लीलाएँ। कुछ नई बात होनी चाहिए।

एक तीसरे सज्जन बोले—रास-मण्डलियाँ तो आजकल नौटङ्कियाँ हो रही हैं, जरा देर ताथेया करने के पश्चात् वही अड़ड़ा-धड़म—राजा जी, रानी जी, होने लगता है और इनमें रक्खा ही क्या है।

एक अन्य सज्जन बोले—तो किसी गाने वाले को बुलाइए।

मिश्र जी बोले—भई, गवइयों को बुलाना फिजूल है। सिवाय 'अ-अ-आ' और 'आ'-के उनका एक शब्द भी समझ में नहीं आता।

दूसरे सज्जन ने कहा—तो किसी भजनीक को बुलाइए।

मैं फिर बोल उठा—अजी यह आप भूल कर भी न कीजिएगा। वह जहाँ करतालें लेकर सिर हलाते हुए "देखो

तो स्वामी कैसा उपकार कर गया है" गाते हैं, बस कुछ न पूछिए, जी मचलाने लगता है। इससे तो बन्दर का नाच करा लीजिए सो अच्छा है।

मिश्र जी झुँझला कर बोले—तो साहब फिर आखिर हो क्या? यह भी न हो, वह भी न हो, तो हो क्या?

उसी समय एक सज्जन आए। वे गाँधी-सूट पहने हुए थे। उन्हें देखते ही मिश्र जी बोल उठे—आइए-आइए शुक्ल जी आइए।

शुक्ल जी बैठते हुए बोले—कहिए, क्या सोच-विचार हो रहा है?

मिश्र जी बोले—क्या बताऊँ, विवाह में बारातियों के लिए कुछ मनोरञ्जन की चिन्ता हो रही है!

शुक्ल जी बोले—तो कुछ निश्चय हुआ?

मिश्र जी—निश्चय तो अभी कुछ भी नहीं हुआ; आप इस सम्बन्ध में कुछ बता सकते हों तो बताइए।

शुक्ल जी बोले—मेरी राय तो यह है कि आप सटर-पटर कुछ न कराइए।

मिश्र जी—हाँ, तो फिर क्या कराऊँ?

शुक्ल जी के कुछ कहने के पूर्व एक कायस्थ महाशय बोल उठे—हमारी राय नाकिस माँ तो यो आवत है कि आप यो अल्लम-गल्लम सब बालाए ताक रख दें और रक्से बुताने-चोबी करावें।

मैं झट बोल उठा—अरे भई, जरा लुग़त तो उठा लेना।

कायस्थ महाशय बोले—काहे यो काहे, लुग़त की कौन जरूरत है? शायद हम जो बुताने-चोबी का फारसी महाविरा इस्त्यामाल कीन एही मारे आपका लुगत की जरूरत पड़ी। बुताने-चोबी फारसी माँ कठपुतली का कहत हैं। सो हमार तो यह नेक सलाह है कि कठपुतली का नाच होवै। भई चाहे और कौनो का पसन्द आवै चाहे न आवै, पर हमें तो निहायत पसन्द है। जिस वक्त वह हाथ मटका कर "जनियाँ लाल मिलौंगी" कहत हैं, इलम कसम बे पिए सरूर आय जात है।

कायस्थ महाशय की बात सुन कर सब हँस पड़े—यद्यपि मुझे थोड़ा क्रोध आगया था—ख़ैर!

शुक्ल जी बोले—अजी यह सब कुछ नहीं—आप कवि सम्मेलन करावें।

कवि-सम्मेलन का नाम सुन कर कुछ उर्दू-दाँ सज्जनों के कान खड़े हुए कि ऐं यह कवि-सम्मेलन क्या बला है।

एक सज्जन बोले—क्यों साहब, यह कवि-सम्मेलन क्या कोई नया तमाशा ईजाद हुआ है? इसके पहले तो आज तक कभी इसका नाम सुना नहीं था। भई क्या ताज्जुब है, यह अङ्गरेजी का जमाना है, नए-नए खेल-तमाशे ईजाद होते रहते हैं, नई चीज है तो जरूर देखना चाहिए।

शुक्ल जी ने कहा—कवि-सम्मेलन मुशायरे को कहते हैं।

एक मुसलमान सज्जन भी बैठे थे, वे बोल उठे—लाहौल बिला क़ूवत ! शादी-ब्याह और मुशायरे से क्या निसबत, शायर भी कोई भाँड़ हैं कि ढोलक लेकर आ पहुँचे। यों कोई ख़ास शायर सेहरा या क़सीदा पढ़ना चाहे तो बात दूसरी है, मगर मुशायरा चे मानी दारद।

मिश्र जी ने कहा—कवि-सम्मेलन से क्या लाभ ?

शुक्ल जी—देखिए तो, सब आनन्द आवेंगे।

कायस्थ महाशय बोले—यौ आपका फरमावत हौ, सब आनन्द कैसे आवेंगे ? का तवायफ और भाँड़न का मजा भी कवि-सम्मेलन माँ आय सकत है ?

यह सुन कर मुझे क्रोध आ गया; क्योंकि मैं भी कवि बनने की चेष्टा कर रहा हूँ। मैंने कहा—कवियों के प्रति आप ऐसे शब्द.............!

मेरी बात काट कर मिश्र जी बोले—आप नाराज़ न हों; यह तो बात हो रही है, कवियों पर कोई आक्षेप नहीं है।

शुक्ल जी ने कहा—एक तो कवि-सम्मेलन में अच्छी-अच्छी कविताएँ सुनने को मिलेंगी। लोगों का काफी मनोरञ्जन होगा। दूसरे हिन्दी की सेवा भी हो जायगी—एक पन्थ दो काज हो जायँगे।

मिश्र जी बोले—भला कविगण आने क्यों लगे ?

शुक्ल जी बोले—यह तो बड़ी सहल बात है। चार-पाँच

पारितोषिक रख कर समस्याएँ निकाल दीजिए और कवियों को निमन्त्रण भेज दीजिए—सब खिंचे चले आवेंगे।

मिश्र जी बोले—कोई भी न आएगा।

शुक्ल जी—हाँ, कुछ लोग ऐसे हैं कि न आएँगे, पर अधिकांश स्वयम् पधारेंगे और कुछ अपनी कविताएँ भेज देंगे। जो अधिक मुक्खड़ होंगे वे अधिक से अधिक इतना करेंगे कि आने-जाने का किराया ले लेंगे, सो आप उन्हें किराया भेज दीजिएगा।

मिश्र जी—किराया भेजने में तो बड़ा खर्च होगा।

शुक्ल जी—अजी अधिक नहीं, सौ दो सौ का खर्च है। तीसरे दर्जे का किराया और दो रुपए इक्के आदि का ख़र्च, बस इतना काफ़ी है। कवि लोग बड़े सन्तोषी होते हैं।

एक सज्जन ने पूछा—क्यों साहब, इसमें खास लुत्फ़ क्या होगा?

शुक्ल जी ने उत्तर दिया—पहली बात तो यह है कि मिश्र जी का कवि-मण्डली में काफ़ी नाम हो जायगा। जहाँ कवि लोग जायँगे मिश्र जी का गुणगान करेंगे। इसके अतिरिक्त सब लुत्फ़ रहेंगे। वीर-रस, शृङ्गार-रस, करुणा-रस भयानक-रस, वीभत्स-रस, सब रसों का आस्वादन करने को मिलेगा। जिस समय कवि लोग कविता पढ़ेंगे, उस समय ख़ास आनन्द आवेगा। कोई गाकर पढ़ेगा, कोई रोकर, कोई हँस कर, कोई उछल कर, कोई हाथ मटका कर। आप

देखिएगा तो—खास लुत्फ रहेगा। हर एक यह चेष्टा करेगा कि मेरी ही कविता प्रथम पारितोषिक प्राप्त करे। आखिर में जब पारितोषिक बँटेगा तब चार-चार चोंचें भी देखने को मिलेंगी।

मिश्र जी—चोंचें कैसी, क्या फ़ौजदारी होगी ?

शुक्ल जी—अजी नहीं, फौजदारी का क्या काम, खाली जीभों की लपालपी बस। मैंने कहा न, ख़ाली चहल-पहल रहेगी।

एक उर्दूदाँ बोल उठे—तो क्यों साहब, ये कवियों के तायफे कहाँ-कहाँ से बुलाए जायँगे। सबसे मशहूर कहाँ का तायफ़ा है ? एक रोज़ घण्टे दो घण्टे के लिए उन्हें हम भी अपने यहाँ बुलाएँगे। ज़रा आप यह दरियाफ्त कर लीजिएगा कि दो घण्टे का क्या लेंगे। मगर तायफा मशहूर हो भई, तवायफों का तो यह क़ायदा है कि नाच के सौ रुपए लेती हैं तो मुजरे के दस-पन्द्रह रुपए बस, कवियों का हाल हमें मालूम नहीं। आप दरियाफ्त करके बताइएगा।

इतना सुनना था कि मुझे ज़बर्दस्ती क्रोध आ गया। उछल कर खड़ा ही तो हो गया और झपट कर उन महाशय की गर्दन नापने के लिए आगे बढ़ा था कि ठोकर लगी और गिर पड़ा।

*　　*　　*

आँख जो खुली तो देखा कि मैं पलँग के नीचे पड़ा हूँ। जल्दी से झाड़-पोंछ कर उठा, सवेरा हो चुका था। अतएव मैं स्वप्न पर विचार करता हुआ नित्य-क्रिया से निवृत्त होने का आयोजन करने लगा।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

अजो सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

क्या कहूँ भाई, हिन्दुओं का पाखण्ड देख कर चित्त को बड़ा ही क्लेश होता है। हिन्दुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरञ्जन का साधन बना रक्खा है। इनकी समझ में ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठा लादना और दूसरे अपना मनोरञ्जन करना। आम के आम और गुठलियों के दाम ! धर्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है ? देवताओं की अधिकता सनातनी हिन्दुओं के लिए उतनी ही मनोरञ्जक है, जितनी किसी बालक के लिए खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नए-नए खिलौनों से खेलना पसन्द करता है, वैसे ही सनातनी भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की आकांक्षा रखते हैं; सवेरे मुकटेश्वर के मन्दिर में विराजमान हैं तो शाम को महेश्वरी देवी के मन्दिर में डटे हैं। दो घण्टे पश्चात् देखिए तो किसी अन्य ईश्वरी अथवा ईश्वर के दरबार में उपस्थित हैं। क्या ऐसा

भक्ति-वश करते हैं? अजी नारायण का नाम लीजिए! भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता इनको नहीं है। करते हैं केवल 'मज़े' के लिए। मज़ा ढूँढ़ते फिरते हैं—मज़े के लिए दीवाने हैं। मैंने अनेक 'भक्तों' को यह कहते सुना —"आज अमुकीश्वरी के दरबार में गए थे—कुछ मज़ा नहीं आया। आज अमुकेश्वर के दरबार में कुछ आनन्द नहीं आया।" इन कमबख्तों से कोई पूछे—मज़ा नहीं आया तो इसके लिए ईश्वर अथवा ईश्वरी क्या करें? उन्होंने आपको मज़ा पहुँचाने का ठेका ले रक्खा है? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या मज़े लूटने? जैसे लोग कबूतरबाज़ी, पतङ्गबाज़ी तथा अनेक प्रकार की अन्य बाज़ियों में मज़ा ढूँढ़ा करते हैं, ऐसे ही कुछ भक्त लोग "देवताबाज़ी" करते हैं और उसमें मज़ा ढूँढ़ते रहते हैं। जिस देवता में उन्हें कुछ मज़ा अथवा आनन्द मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है। जिसमें आनन्द नहीं आता, वह देवता नापास और देवताओं की बिरादरी से ख़ारिज! ऐसे देवता के मन्दिर में शाम को कोई चिराग़ भी नहीं जलाता। जो देवता 'मज़ा' देता रहता है, उसकी शान देखिए—क्या ठाट रहते हैं। आप पूछेंगे कि "देवताबाज़ी" में क्या मज़ा आता है। मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि लोगों को बटेरबाज़ी, कबूतर-बाज़ी, पतङ्गबाज़ी मे क्या मज़ा आता है? मुझे तो वह

सोलहो आने हिमाकतबाज़ी दिखाई पड़ती है। परन्तु उन्हें कुछ तो मज़ा आता ही होगा, तभी तो वे उसमें समय तथा धन नष्ट करते हैं। उस मज़े को हम आप नहीं समझ सकते। इसी प्रकार "देवताबाज़ी" के मज़े का अनुमान हम-आप नहीं लगा सकते। हाँ, देवताबाज़ों को किस बात में आनन्द मिलता है, इसको मैंने समझने का प्रयत्न किया है।

श्रावण तथा भादों का महाना "देवताबाज़ों" के लिए बड़े आनन्द का महीना है। श्रावण के प्रत्येक सोमवार को ये लोग व्रत रखते हैं और उस दिन किसी विशेष ईश्वर के दरबार मे जमा होते हैं। अतएव इन लोगो का आनन्द इतवार से ही आरम्भ हो जाता है। मेरे जान-पहचान के एक कायस्थ सज्जन, जो मांस के बड़े ही प्रेमी हैं, कहा करते हैं कि एक दिन मांस खाने का आनन्द तीन दिन तक रहता है। जिस दिन उनके यहाँ मांस पकता है, उसके एक दिन पहले इस आशा में आनन्द आता है कि कल मांस खाने को मिलेगा। जिस दिन खाने को मिलता है उस दिन का तो कहना ही क्या है। खाने के दूसरे दिन इस बात को याद करके मज़ा आता है कि कल मांस खाया था। यही दशा इन अधिकांश व्रत रखने वालों की होती है। इतवार से ही स्कीमें बनने लगती हैं कि कल खाने को क्या-क्या बनना चाहिए। व्रत का उद्देश तथा उसके कर्त्तव्य सब गए चूल्हे में, सबसे पहले खाने की फिक्र होती है। रखते हैं व्रत

और खाने की चिन्ता एक दिन पहले से पड़ जाती है। इस विरोधाभास का भी कुछ ठिकाना है? इसके पश्चात् यह तय होता है कि कल किस ईश्वर के दरबार में चलना चाहिए। इसके लिए अधिक सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे शहर में चार ईश्वर हैं। प्रत्येक सोमवार को एक-एक ईश्वर के दरबार में मेला लगता है, अतएव अधिकांश वहीं जमा होते हैं। जो लोग धनी हैं, उनका सब सामान इतवार की शाम को ही ईश्वर जी के कम्पाउण्ड में पहुँच जाता है। सोमवार के दिन शाम को इस कम्पाउण्ड में जिधर देखिए सिल-बट्टा खटक रहा है। खूब गहरी छनती है। शिव जी की भक्ति में एक यही तो बड़ी सुविधा है कि छानने को खूब मिलता है। सोमवार के दिन दोनों समय छनती है। सवेरे से ही नशे जम जाते हैं। भाँग-चाँग पीकर वहीं शौच से निवृत्त हुए। इसके पश्चात् स्नान किया, तत्पश्चात् ईश्वर जी की खोपड़ी पर एहसान का टोकरा लादा गया। अर्थात् थोड़ी देर पूजन किया। इसके पश्चात् आनन्द के साथ तरमाल पर हाथ साफ़ किया।

यों चाहे कभी महीनों अजीर्ण न होता हो, परन्तु व्रत के दिन निश्चय अजीर्ण हो जायगा। व्रत और उपवास के अर्थ ही यही हैं कि अजीर्ण हो जाय। इसके पश्चात् हा-हा, हू-हू आरम्भ हुई और रात के नौ-दस बजे तक आनन्द लूट कर घर आए। जो अधिक तबीयतदार हुए वे रात में भी

वहीं डट गए और नौटङ्की का स्वाँग देखा। जी हाँ, ईश्वर के दरबार में नौटङ्की भी होती है। इसमें भक्त लोगों का क्या दोष? प्रत्येक ईश्वर को नौटङ्की देखने की लत पड़ गई है। भक्त लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिए यह भी करते हैं। पूजन करेंगे दस-पन्द्रह मिनट और भाँग छानने में, आँखें मीच-मीच कर भोजन का स्वाद लेने में, नौटङ्की देखने में सारा दिन और रात ख़र्च कर देंगे। मूर्ख और अशिक्षित उन्हें देख कर कहते हैं—भई, यह शिव जी के बड़े भक्त हैं। देखो न, शाम से लेकर सवेरे तक बाबा के दरबार में पड़े रहे। भाँग छानना, दाल-बाटी का आनन्द लूटना, नौटङ्की देखना, उछल-कूद करना इन अक़्ल के दुश्मनों को "दरबार में पड़े रहना" दिखाई पड़ता है। भक्तराज घर आकर हमारे जैसे लोगों से, जिन्हें उनका-सा सौभाग्य कभी स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता, कहते हैं—"आज बाबा के दरबार में बड़ा आनन्द आया। ख़ूब जी भर कर पूजन हुआ। बाबा का शृङ्गार भी बड़ा दिव्य हुआ था। बड़ी विशाल मूर्त्ति है।" हालाँ कि बाबा के पास केवल दस मिनट से अधिक नहीं फटके, परन्तु बातें बाबा ही की करेंगे। और इस ढङ्ग से करेंगे मानों बाबा के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। और आनन्द यह है कि विशाल और सिद्ध मूर्त्ति होते हुए भी दूसरे सोमवार को भक्तराज उनकी बात भी न पूछेंगे—दूसरे सोमवार को दूसरे बाबा का दरबार अपनी चरण-रज से

पवित्र करेंगे। इसी प्रकार तीसरे सोमवार को किसी तीसरे बाबा की खोज होगी। क्यों सम्पादक जी, इसे आप देवता-बाज़ी नहीं तो और क्या कहेंगे? इसके साथ एक बात और है—तीन बाबा का दरबार तो गङ्गा-तट पर है और एक बाबा का दरबार रेलवे लाइन-तट पर। अतएव जिन बाबा का दरबार गङ्गा-तट पर है, वहाँ भक्त लोग अधिक जमा होते हैं। क्यों? इसलिए नहीं कि उक्त तीन बाबा अधिक पहुँचे हुए हैं, इसलिए कि गङ्गा-तट होने से वहाँ आनन्द अधिक आता है। रेलवे लाइन-तट वाले बाबा के दरबार में उतना आनन्द नहीं आता। इसलिए लोग उन्हें ज़रा कम पतियाते हैं।

श्रावण में फूलों तथा झाँकियों का ज़ोर भी रहता है। इस अवसर पर अनेक मन्दिरों में रास, थिएटर तथा नौटङ्की का आयोजन रहता है, अतएव काफी भक्तगण जमा होते हैं। मनचले लोगों को स्त्रियों पर नयन-बाण प्रहार तथा छेड़छाड़ करने का सुअवसर भी प्राप्त होता है। ठाकुर जी के सामने नौटङ्की में ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग होते हैं कि भगवान् बचावे। रासलीलाएँ तो लोप ही हो गईं। रासमण्डली वाले दस-पन्द्रह मिनट "द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधौ" का नाच तथा 'ताथेई' करके झट राजा-रानी बन कर खड़े हो जाते हैं, और "प्यारी तेरे इश्क़ में हुआ हाल बेहाल" के साथ नगाड़ों की "कड़-कड़ धम' का

समाँ बाँध देते हैं। अड़ोस-पड़ोस वालो की नींद हराम हो जाती है और नगाड़ो की कड़-कड़ और धम-धम से सिर मे दर्द पैदा हो जाता है। परन्तु ठाकुर जी के नाम पर यह सब सहन किया जाता है। एक बार नगाड़ों की धमाधम से एक मकान गिर पड़ा था और बहुत से आदमियों के चोट आगई थी। जिस मकान मे ठाकुर जी विराजमान थे, वह था पुराना तथा जीर्ण-शीर्ण। नगाड़ों की कड़कड़ाहट जो हुई तो एक दीवार अररा कर बैठ गई। लोग समझे कि बरसात के कारण दीवार बैठ गई। परन्तु असली कारण नगाड़ो की कड़कड़ाहट थी। जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया है, वह भली-भाँति जानते हैं कि वायु के कम्पन में कितनी शक्ति होती है। जितने जोर का शब्द होगा, उतना ही अधिक वायु में कम्पन उत्पन्न होगा। उसी कम्पन के धक्के से दीवार बैठ गई। ठाकुर जी को अपने भक्तों पर इतनी भी दया नहीं आई कि एक रात के लिए दीवार साध लेते—गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठा लेने वाले ठाकुर जी की यह निष्ठुरता !

सम्पादक जी, यह सब धर्म के नाम पर और धर्म की ओट मे होता है। यदि इस पर कोई भला आदमी कुछ कहता है, तो भक्त लोग झट उसे नास्तिक, आर्यसमाजी, विधर्मी इत्यादि की उपाधियों से विभूषित कर देते हैं !!

इसके पश्चात् जन्माष्टमी आती है। इस अवसर पर

भी भक्त लोगों का उत्साह देखने योग्य होता है। इस दिन भी अनेक लोग उपवास करते हैं। कुछ लोग तो कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् भोजन करते हैं और कुछ फलाहार के नाम से दिन भर दुनिया भर का अल्लम-गल्लम चट करते रहते हैं। यों रोज़ दिनभर में दो बार भोजन करेंगे, परन्तु व्रत के दिन फलाहार के बहाने बकरी की तरह दिन-भर मुँह चलता रहेगा। जन्माष्टमी का व्रत लोग कैसे रखते हैं, इस सम्बन्ध की एक घटना देकर यह चिट्ठी समाप्त करता हूँ।

एक हमारे पड़ोसी महोदय कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। बड़े धार्मिक तथा भक्त हैं। जन्माष्टमी के दिन रात के बारह बजे तक जागरण करना होता है। सो हमारे पड़ोसी भक्तराज जागने के लिए उस दिन बाइस्कोप देखते हैं। बाइस्कोप देख कर जब लौटते हैं, तब कृष्ण जी का जन्म करते हैं। दो-तीन साल पहले की बात है। जन्माष्टमी का दिन था। घटनावश उस दिन भक्तराज बाइस्कोप नहीं गए, अतएव घर में पड़ के सो गए। जब जन्म का समय आया तो घर वालों ने आपको जगाने की चेष्टा की। परन्तु भक्तराज मुर्दों से बाजी लगा कर सोए थे। उनकी माता ने लाख प्रयत्न किया, पर वह नहीं उठे। इधर उनके न उठने से कृष्ण जी का जन्म तमादी में पड़ा जा रहा था। लोग इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि पण्डित जी उठें तो कृष्ण महाराज

तवल्लुद हों, और कृष्ण जी तवल्लुद हों तो मीठा-मीठा पञ्चामृत तथा प्रसाद चखने को मिले। परन्तु जब पण्डित जी नहीं उठे और कृष्ण जी असहयोग करके वैकुण्ठ लौट जाने पर अमादा हो गए तो लोगों ने उनकी माता से कहा—"तो तुम्हीं जन्म कर दो।" विवश होकर उनकी माता ने जन्म किया। यह दशा भक्तगणों की है। पञ्चा-मृत और प्रसाद बँटने के समय वे पैसे-कौड़ी का दङ्गल देखने को मिलता है। बहुधा प्रसादार्थी भक्तों में लात-जूता तक चल जाता है। एक-एक भक्त कई-कई बार प्रसाद लेने के लिए पहुँचता है। प्रसाद और पञ्चामृत लेने के लिए भक्त लोग रात के एक बजे तक जागा करते हैं। टइयाँ-से मन्दिर के द्वार पर बैठे हैं। किसी ने कहा भी कि "अभी क्या है? जन्म हो ले तब आना।" तो बोले—"हम बैठे भजन कर रहे हैं, कुछ प्रसाद के लिए थोड़ा ही बैठे हैं।" यदि पञ्चा-मृत की जगह गङ्गाजल का चरणामृत बँटा करे तो भजन का हाल खुले, तब एक भी न दिखाई पड़े। प्रसाद बाँटने वाले ठाकुर जी के एजेण्ट भी खूब कतर-ब्योंत करते हैं। जान-पहचान वालों को खूब दोने भर कर और गिलास भर कर प्रसाद देते हैं और अपरिचितों को वही माशे भर की कुल्हिया और तोले भर का दोना। इस पर भी ठाकुर जी का दिवाला निकल जाता है, । तब पञ्चामृत में गङ्गाजल की बाढ़ आ जाती है। गङ्गाजल की बाढ़ आते ही भक्तगणों का

रेला भी बन्द ! गङ्गाजल का प्रसाद कौन मकुआ लेता है। उसकी क्या कमी है—गङ्गा भरी पड़ी है। प्रसाद की भक्ति तो पञ्चामृत की कुल्हिया और दोने के ही साथ रहती है। जहाँ उनमें फ़र्क़ पड़ा, बस भक्ति भी बिदा हो गई।

यह दशा है; और ये ही भक्तगण हमारे जैसे लोगों को, जो इस पाखण्ड से कोसों दूर रहते हैं, नास्तिक कहते हैं। सम्पादक जी, अपने राम नास्तिक रत्ती भर भी नहीं हैं और न ठेठ आर्यसमाजी ही हैं कि कृष्ण और शिव को न मानते हों। बात केवल इतनी है कि जब तक हृदय में सच्ची श्रद्धा तथा भक्ति न हो, तब तक केवल लोगों को दिखाने के लिए, अथवा ईश्वर के सिर पर एहसान लादने के लिए कोई काम नहीं करते। यदि अपने राम के हृदय में श्रद्धा-भक्ति नहीं है, तो इसमें अपने राम का क्या अपराध ? अपने राम तो बहुत प्रयत्न करते हैं कि कभी-कभी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाया करे। परन्तु जब कभी कुछ अङ्कुर प्रस्फुटित भी होता है, तो पाखण्डी भक्तों की लीला और देवताओं की छीछालेदर देख कर वह अङ्कुर मुरझा कर रह जाता है। उस समय यह सोच कर सन्तोष होता है कि इन भक्तों से तो हम अभक्त लाख दर्जे अच्छे हैं।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

३६

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की !

आपने दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ विधवाश्रम की पुनीत सेवाओं का वृत्तान्त समाचार-पत्रों में पढ़ा ही होगा। यहाँ भी एक विधवाश्रम की सेवाएँ पुलिस की आँख में मूसल की भाँत खटकती थीं, अतएव उसने एक दिन अवसर पाकर आश्रम पर छापा मारा और उसके परोपकारी सञ्चालक को सरकारी मेहमानखाने का उम्मीदवार बना कर छोड़ दिया। भई, चाहे कोई माने या न माने, पर अपने राम तो इसे सोलहो आने पुलिस की चालबाज़ी मानते हैं। पुलिस का आरोप यह है कि उक्त आश्रम में इधर-उधर की भूली-भटकी स्त्रियाँ बहका कर लाई जाती थीं, उनसे व्यभिचार कराया जाता था और ग्राहक लगने पर उन्हे बेच दिया जाता था।

अपने राम इस आरोप के अक्षरों की एक मात्रा भी सत्य मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। स्त्रियाँ कुछ गाय-भैंसें तो हैं नहीं, जो पकड़-पकड़ कर काँजी-हाऊस की तरह विधवा-श्रम में हाँक दी जा सकें। स्त्रियों को हाँक ले जाना सहज

नहीं है। यदि इसमें आपको सन्देह हो तो किसी पत्नी वाले सद्गृहस्थ से पूछ लीजिए। वह आपको यही उत्तर देगा कि स्त्रियों के समान अड़ियल मनुष्यों में तो क्या, टट्टुओं में भी चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी कदाचित् ही मिले। इन्हें जितना आगे बढ़ाने की चेष्टा करो उतना ही ये पीछे हटती हैं। ऐसी स्त्रियों को विधवाश्रम वाले हाँक ले जायँ! शिव! शिव!!

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि भूली-भटकी स्त्रियाँ हसन निज़ामी के चेलों से बचने ही कहाँ पाती हैं, जो दूसरों के हाथ में पड़ें और न कभी यह देखा कि विधवाश्रम वालों तथा हसन निज़ामी के चेलों में किसी स्त्री की छीन-झपट करते हुए लात-जूता चला हो—हाँ, सुना बहुधा है; परन्तु अपने राम सुनी हुई बात पर बहुत कम विश्वास करते हैं।

कहा यह जाता है कि विधवाश्रम वाले स्त्रियाँ बेचते हैं। यह बात बिलकुल ग़लत है। आश्रम वाले स्त्रियाँ बेच ही नहीं सकते। क्यों? उन्हें हुकुम नहीं है। जब हुकुम नहीं तब कैसे बेच सकते हैं—दिल्लगी है? हुँह! कह दिया बेचते हैं। और बिकने वाली चीज़ें जाती कैसे हैं? जड़ पदार्थ पैक होकर जाते अथवा सन्दूक़, बक्स या टोकरी इत्यादि में जाते पशु इत्यादि गले में रस्सी या नाक में नाथ डाल कर ले जाए जाते हैं। स्त्रियाँ न पैक की जा

सकती हैं, न उन्हें किसी बक्स या टोकरी में रक्खा जा सकता है; न उनके गले में रस्सी डाली जा सकती है और न नाक में—फिर ख़रीददार लोग उन्हें ले कैसे जाते होंगे। अपने राम की समझ में आज तक यह बात नहीं आई। अजी यह सब कहने की बात है। कुछ लोग कहते हैं कि—"स्त्रियाँ विवश होकर स्वयम् ही पालतू कुत्ते की तरह ख़रीददार के साथ चली जाती हैं। न जायँ तो करें क्या ?" यह बात भी अपने राम को कम जँचती है। इस बीसवीं शताब्दी में सत्याग्रह, असहयोग, अनशन, अहिंसा तथा और न जाने क्या-क्या होते हुए भी कहा जाता है कि क्या करें ? कुछ और न कर सकें तो कहीं एक स्थान पर बैठ कर कोसना ही आरम्भ कर दें तो बेचने वाले और ख़रीदने वाले दोनों के पुरखों की आत्माएँ तक तिलमिला जायँ। 'काह न अबला करि सकै' वाली कहावत के अनुसार स्त्री सब कुछ कर सकती है। यहाँ तक कि जब वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेची जाने पर ख़रीददार के साथ बिना भौंहे मटकाए और उँगली नचाए चली जाती है तो रह क्या गया ? इसी से तो कहा जाता है कि स्त्री सब कुछ कर सकती है। स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई नहीं ले जा सकता। रावण सीता को उनकी इच्छा के विरुद्ध ले गया तो उसका क्या परिणाम हुआ ? हालाँ कि रावण कैसा शक्तिशाली और बलवान् था—यह सब जानते

हैं। शिशुपाल ने रुक्मिणी को उनकी इच्छा के विरुद्ध ले जाना चाहा था—आख़िर वह किस दशा को प्राप्त होता भया, यह आपने रुक्मिणी-मङ्गल में अवश्य सुना होगा। और वैसे तो लोग नित्य हज़ारों स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध ले जाते हैं और कोई माई का लाल चूँ नहीं करता। उलटे ख़ुशी मनाते हैं, बाजे बजवाते हैं, रुपए-पैसे लुटाते हैं। स्त्री बेचारी बिलख-बिलख कर रोती हुई उनके साथ हो लेती है। यदि वह अपनी इच्छा से जाय तो हँसती हुई न जाय—रोती हुई क्यों जाय? हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उस दशा में जो स्त्री को ले जाता है, उसकी मुट्ठी गर्म होती है और इस दशा में जिसे लोग स्त्री-विक्रय कहते हैं, स्त्री को ले जाने वाले की मुट्ठी ठण्ढी हो जाती है।

यदि स्त्री बेचने वाले भी ख़रीददार की मुट्ठी गर्म कर दिया करें तो फिर शायद लोगों को कोई शिकायत न रहे।

अब ज़रा उन लोगों पर ग़ौर कीजिए, जिन पर स्त्री-विक्रय का आरोप लगाया जाता है। उनमें से अधिकांश जो हैं वह खद्दर पहनते हैं। (जो नहीं पहनते वह ग़लती करते हैं। और इसीलिए लोगों को उन पर शक करने का मौक़ा मिलता है।) दूसरे वे अपने द्वार पर ऐसा साइनबोर्ड लगाते हैं जिसमें से देश-सेवा शहद की तरह टपकती रहती है। फिर भी लोग उनकी देश-सेवा पर सन्देह करते हैं—ग़ज़ब है, सितम है। हालाँ कि वह बेचारे केवल इसीलिए

कि लोग उन पर सन्देह न करें, सबका आदर करते रहते हैं और सबको ख़ुश रखने की चेष्टा करते हैं। ख़ास कर पुलिस को ख़ुश रखने में उन बेचारों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। क्योंकि पुलिस का स्वभाव बड़ा शक्की होता है, और पुलिस का शक किसी क़दर ख़तरनाक भी कहा जाता है। इतना करने पर भी लोग उन पर अविश्वास करते हैं। राम! राम! इसीसे कहा है कि संसार से न्याय उठ गया। जब उन्होंने द्वार पर विधवाश्रम अथवा किसी ऐसे ही श्रद्धा उत्पन्न करने वाले नाम का साइनबोर्ड लगा रक्खा है तो फिर वे भीतर चाहे कोकेन बेचें, चाहे जुआ खिलावें और चाहे स्त्री बेचें—इससे लोगों को क्या मतलब? किसी की भीतरी बातों से सर्वसाधारण को क्या सरोकार? हाँ, यदि बम बनावें, या सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रचें तो पुलिस को अधिकार है कि उसमें हस्तक्षेप करे। परन्तु जब वह सरकार के ख़ैरख़्वाह और पुलिस के मित्र हैं, तो फिर किसी को बोलने का अधिकार नहीं है।

उस दिन एक महाशय मुझसे बोले—क्यों दुबे जी, क्या विधवाश्रमों में सत्य ही ऐसा अनर्थ होता है?

मैंने उत्तर दिया—विधवाश्रमो में अनर्थ हो ही नहीं सकता—जो कुछ होता है वह सार्थक होता है।

"आपका तात्पर्य यह है कि अनर्थ भी सार्थक होता है?"

"निस्सन्देह!"

"क्यों ?"

"इसलिए कि कपास, जहाँ जायगी ओटी जायगी। सुन्दर और युवती स्त्रियाँ जहाँ जायँगी वहीं लोग इन्हें घतियाएँगे। क्या आप समझते हैं कि विधवाश्रम के कार्य-कर्त्ता सब इन्द्रियजित अथवा धर्मराज के वंशज हैं ?"

"जनता तो उनसे ऐसे ही व्यवहार की आशा करती है।"

"तो जनता अन्धी और मूर्ख है। सम्भव है, एकाध मनुष्य ऐसा निकल आवे; परन्तु प्रत्येक विधवाश्रम का प्रत्येक कार्यकर्त्ता ऐसा नहीं हो सकता। और न समस्त विधवाएँ ही सीता-सावित्री हो सकती हैं। ऐसी दशा में केवल दो ही उपाय हैं। या तो विधवाश्रम रक्खे ही न जायँ और जो रक्खे जायँ तो वहाँ जो कुछ भी हो उसे सहन किया जाय।"

"जो विधवाश्रम तोड़ दिए जायँ तो विधवाएँ कहाँ जायँ ?"

"उनका विवाह कर दिया जाय।"

"परन्तु विधवा-विवाह का इतना प्रचलन अभी है कहाँ ?"

"प्रचलन अपने आप तो हो नहीं जायगा। जब आप लोग करेंगे तभी होगा।"

"कोई और उपाय होना चाहिए।"

"हाँ, एक उपाय और है ?"

"वह क्या ?"

"विधवाश्रमों के जितने कार्यकर्त्ता हों, सब ख्वाजासरा हों—जैसे कि मुसलमान-बादशाह अपने हरम के लिए रखते थे।"

"ख्वाजासरा किसे कहते हैं ?"

"ख्वाजासरा एक ऐसा प्राणी होता है, जिसके केवल नौ इन्द्रियाँ होती हैं—दसवी इन्द्री बिलकुल जड़ से ग़ायब होती है।"

"आप तो मज़ाक करते हैं।"

"बेशक मज़ाक़ है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है; इसलिए मज़ाक़ तो है ही।"

"परन्तु विधवाओं को बेच भी तो लेते हैं। इसकी रोक-थाम कैसे होगी ? और यदि ख्वाजासरा भी रक्खे जायँ तो वे अन्य पुरुषों को विधवाओं से मिला सकते हैं। ख्वाजासरा रुपए के लोभ को कैसे त्याग देंगे ?"

"इसकी युक्ति यह है कि जितने ख्वाजासरा हों, सब लखपती और करोड़पती हों—उनके घर में असंख्य रुपए भरे पड़े हों—तब वह रुपए के लोभ से कोई काम न करेंगे। अब आप समझे ? स्वयम् वह किसी काम के नहीं—रुपए की उन्हें कमी नहीं, इसलिए दूसरों की भी दाल नहीं गल सकती। बस, फिर बेखटके विधवाश्रम चलने दीजिए।"

वह महाशय सोच कर बोले—युक्ति तो अच्छी है; पर कार्य में परिणत नहीं हो सकती।

"तो फिर बातों के जमा-खर्च से काम भी नहीं चल सकता, आराम से घर में बैठिए और बस 'टुक-टुक दीदम दम न कशीदम' वाली कहावत से काम लीजिए।"

"यह भी तो नहीं हो सकता।"

"तो फिर गङ्गा में जाकर डूब मरिए, न देखिएगा न भूँकिएगा।"

"वाह! यह आपने अच्छी कही, मैं गङ्गा में क्यों डूबने लगा?"

"बेशक, गङ्गा क्या, आप तो समुद्र के भीतर से भी टइयाँ-से निकल आवेंगे। आप प्रशान्त महासागर में भी न डूबेंगे। आप उन आदमियों में नहीं हैं, जिनके लिए चुल्लू भर काफी होता है।"

इतना सुन कर फिर वह नहीं बोले—चुपचाप खिसक गए।

सम्पादक जी, मेरी राय में तो विधवाश्रम एक बिलकुल व्यर्थ संस्था है। इससे अपकार के अतिरिक्त उपकार बहुत कम होता है। भगवान् जाने यह किसकी ईजाद है। मेरी समझ में विधवाश्रम के अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कि कुछ स्त्रियों को कुछ पुरुष एक स्थान पर जमा रक्खें और उन्हे रोटी-कपड़ा देकर उनसे अपनी इच्छानुसार

काम लें। जिन विधवाओं को कहीं खाने-पीने का तथा आराम से रहने का ठिकाना होगा, वह विधवाश्रम में जायँगी ही क्यों? विधवाश्रम में वे ही जायँगी जो आश्रय-हीन होंगी। आश्रयहीन स्त्रियों में इतना साहस कहाँ कि वे आश्रम के कार्यकर्ताओं की आज्ञा का उल्लङ्घन कर सकें। उल्लङ्घन करें तो कोई न कोई तोहमत लगा कर निकाल बाहर की जायँ। ऐसी दशा में विधवाएँ सर्वथा कार्यकर्ताओं के अधीन होती हैं और वे जैसा चाहते हैं वैसा उन्हें करना पड़ता है। यदि विधवा-विवाह का प्रचलन पूर्णरूप से हो जाय तो फिर इन आश्रमों की आवश्यकता ही न रहे। जब तक विधवाश्रम रहेंगे, तब तक उनमें से अधिकांश में ऐसी ही बातें रहेंगी। इसके लिए विधवाओं को अथवा कार्यकर्ताओं को दोष देना संसार से और मनुष्य-स्वभाव से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। स्त्रियाँ, जो काम तथा अर्थ दोनों का प्रलोभन उत्पन्न करने वाली हैं, उनकी संस्था का प्रबन्ध पुरुष करें, मेरे लिए तो यह ऐसी ही बात है कि चूहों की संस्था की प्रबन्धक बिल्लियाँ बनाई जावें। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि यदि विधवाश्रमों की कार्यकर्त्ताएँ केवल स्त्रियाँ ही बनाई जावें तब भी वहाँ सदाचार का रहना असम्भव है। स्त्री कार्यकर्त्ताएँ स्वयम् विधवाओं को भ्रष्ट नहीं कर सकती, परन्तु रुपए के लोभ से उन्हें बेच सकती हैं—मनचले पुरुषों द्वारा भ्रष्ट करवा सकती हैं।

जो व्यक्ति यह आशा करते हैं कि विधवाश्रम के कार्यकर्त्ताओं को सदाचारी, ब्रह्मचारी, त्यागी, निर्लोभी होना चाहिए, वे पागल हैं, घास खा गए हैं। उन्हें चाहिए कि वे पहाड़ों की कन्दराओं में जाकर निवास करें, बस्ती में न रहें; या फिर संसार का और मनुष्य-स्वभाव का अध्ययन करके अपने भेजे में थोड़ी अक़्ल पैदा करें।

सम्पादक जी, विधवाश्रमों को उनके हाल पर छोड़िए, उनमें सुधार करना किसी के बूते का रोग नहीं है। उनका सुधार तो केवल यही है कि उनको समूल नष्ट कर दिया जाय। इसका असली इलाज विधवा-विवाह है। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी—जब विधवाएँ ही न रहेंगी तो विधवाश्रम कहाँ रहेंगे? जब तक रोग के कीटाणु नहीं मरते, तब तक रोग नहीं हटता। विधवाएँ व्यभिचार, स्त्री-विक्रय, विधर्मियों की जन-वृद्धि इत्यादि रोगों के कीटाणु हैं। ये कीटाणु जब तक जीवित हैं, तब तक हज़ार प्रयत्न करने पर भी उक्त रोगों से छुटकारा मिलना असम्भव है। यदि इन रोगों से छुटकारा पाना हो तो विधवाओं का नाश कीजिए। और उनके नष्ट करने का केवल एक उपाय है और वह है—विधवा-विवाह!

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)